जैनेन्द्र की कहानियाँ

जैनेन्द्र-साहित्य [१४]

जैनेन्द्र-साहित्य [१४]

जैनेन्द्र की कहानियाँ

[तृतीय भाग]

['नीलम देश की राजकन्या', 'लाल सरोवर' और अन्य कहानियाँ]

सर्वोदय साहित्य मंदिर,
कोठी, (बसस्टैण्ड,) हैदराबाद द.

पूर्वोदय प्रकाशन
७, दरियागंज, दिल्ली

पूर्वोदय प्रकाशन
७, दरियागंज, दिल्ली

प्रथम संस्करण
१९५३

मूल्य
साढ़े तीन रुपए

पूर्वोदय प्रकाशन, ७ दरियागंज, दिल्ली की ओर से दिलीपकुमार
द्वारा प्रकाशित और न्यू इण्डिया प्रेस, नई दिल्ली में मुद्रित

प्रकाशक की ओर से

जैनेन्द्र जी की कहानियाँ विचार-प्रधान होती हैं। वे किसी-न-किसी ऐसे मूल विचार-तत्त्व को जगाती हैं, जो जीवन की जागृत समस्याओं की अतलस्पर्शी गहराई में सोया रहता है। जैनेन्द्र की यह दार्शनिकता कहानियों में जीवन की जटिल-से-जटिल ग्रन्थियों के सूत्र सुलझा देती है। जीवन-रस और विचार-रस दोनों एक साथ अपने पूरे सौष्ठव के साथ इन दार्शनिक कहानियों में व्यक्त हुए हैं। इस संग्रह की 'तत्सत्', 'देवी-देवता', 'लाल-सरोवर' आदि लगभग सभी कहानियाँ प्रतीकात्मक हैं। देखने में तो वे लोक-कथाओं की तरह रोचक हैं, किन्तु उन सब में से प्रत्येक में किसी-न-किसी जीवन-सत्य की ओर संकेत है।

इनमें जीवन के वैविध्य में बसने वाले सत्य के विविध पहलुओं को उजागर किया गया है। इन कहानियों में जैनेन्द्र जी का यह कथन कि 'भाव उसमें (कहानी में) प्रधान है, पदार्थ अप्रधान।

बाह्य गौण, अन्तः मुख्य। दृश्य जगत् आनुषंगिक, अदृश्य आत्मा लक्ष्य।' एक दम घटित होता है। इन में जीवन के अदृश्य, अमूर्त अन्तः सत्य को ही विविध प्रतीकों से साकार किया गया है। हिन्दी में ये अपने ढंग की एकमात्र कहानियाँ हैं।

क्रम

देवी-देवता

एक बार, जब दुनियाँ में प्राणी की भी उत्पत्ति नहीं हुई थी, तब, स्वर्ग लोक में घमासान मचा। देवियों ने देवताओं से असहयोग ठान लिया। कहा, "हम देवी नहीं रहना चाहतीं, हम स्त्री होना चाहती हैं। मनोरंजन में ही क्या हमारी सार्थकता है? हम कर्म चाहती हैं। सतीत्व क्यों हमें दुष्प्राप्य है? और सन्तति-पालन का कर्त्तव्य हमारे लिए भी क्यों नहीं है?"

देवता लोगों की बड़ी मुश्किल हुई। उनका जीवन क्या था, आमोद ही था। अप्सरा उस आमोद की प्रधान केन्द्र थी। अप्सरा ने सहयोग खींच लिया, तब देवता का जीवन ही निराधार होने लगा। उसका रस उड़ गया। वह खोया-सा, व्यर्थ-सा, अपने को लगने लगा।

किन्तु फिर भी कुछ काल तक देवता लोग अपनी अस्मिता में डटे रहे। सोचा, देवियाँ न झुकेंगी तो करेंगी क्या?

कुछ दिन बाद देवियों को भी लगने लगा कि असहयोग कदाचित् ठीक नहीं है। लेकिन हारें तो देवी कैसीं? तब सभाएँ

करके वे आपस में खूब वादविवाद करने लगीं और मालूम हुआ कि देवताओं को तो वे इस बार अच्छी तरह बता कर ही छोड़ेंगी।

पर असहयोग सामयिक नीति भले हो जाय, कहीं शाश्वत रूप में वह टिक सकता है? टिकाऊ सत्य तो परस्पर का लेन-देन ही है। फूट तो अन्त में खुद ही फटती है, और दुनिया में बिना मिले तो अन्त तक कुछ भी काम नहीं चलता।

किन्तु मिला कैसे जाय? मिलने में तो मान खंडित होता है! सिर ऊँचा तानकर अपनेपन में सतर खड़े होने से तो मिलाप नहीं होता। कुछ नमो, झुको, तब मेल होता है।

सो जब असहयोग ठाना तब इच्छा होने पर भी मिलना सहज न दीखा।

उस समय इन्द्र ने मेल-मिलाप की कोशिश की, जिस कोशिश से मेल-मिलाप तो न हुआ, फिर भी यह पता चला कि ब्रह्माजी आकर अवश्य कुछ समझौता करा सकते हैं। उनके हाथ में तो सब कुछ है न। वह स्वर्ग के विधि-विधान में कुछ संशोधन करना चाहें तो भी कर सकते हैं। इसलिए, उनके पास चला जाय।

निर्णय के लिए उलझन यह उपस्थित थी कि देवियाँ तो सतीत्व चाहती थीं और देवताओं को विवाह की आवश्यकता समझ न पड़ती थी। सच यह है कि देवता लोग स्नेह के कारण ही देवियों को प्रजनन और सन्तति-रक्षण की झंझट में डालना नहीं चाहते थे। उनकी समझ में नहीं आता था कि इन देवियों की मति कैसी है कि और बवाल सिर पर लेना चाहती हैं! स्वर्ग को स्वर्ग ही नहीं रहने देना चाहतीं। है न उलटी मति!

और देवियों का मत था कि इन देवताओं को अपने सुख-सम्भोग की चाहना है। हमें कष्ट होगा, तो हम देख लेंगी। लेकिन

अपने ऊपर हम एक स्वामी चाहती हैं। सतीत्व और पत्नीत्व और मातृत्व, इनका बोझ जब हम खुद उठाना चाहती हैं तब देवताओं को क्यों चिन्ता होती है? असल बात तो यह है कि पत्नी का स्वामी बनकर भी उस देवता को तो अपनी उच्छृंखलता पर बाधा ही मालूम होती है। वह निर्द्वन्द्व रहना चाहता है निर्द्वन्द्व। लेकिन हम गुलाम बनकर भी उसकी निर्द्वन्द्वता नष्ट करेंगी, नष्ट करके ही छोड़ेंगी।

आखिर ब्रह्माजी के पास मामला पहुँचा। उन्होंने दोनों पक्षों को सुनकर देवी-देवताओं को किंचित् प्रतीक्षा करने का परामर्श दिया। कहा, "विवाह का उदाहरण पहले आप लोग देख लीजिए। तब विचारपूर्वक जैसा हो, निर्णय कीजिएगा। देखिए, दूर, वह ग्रह आपको दीखता है न। उसका नाम पृथ्वी है। अभी तो वहाँ धरती ही तैयार हो रही है। किन्तु बहुत ही शीघ्र, अर्थात् कुछ ही लक्ष वर्षों में, वहाँ मनुष्य नामक प्राणी की सृष्टि कर दूँगा। वे पृथ्वी के व्यक्ति परस्पर पति-पत्नी बना करेंगे और वे परस्पर आकांक्षापूर्वक ही सन्तति प्राप्त किया करेंगे। वहाँ सतीत्व की भी महिमा होगी। तुम लोग उनके समाज को देखना। उसके बाद अपनी सम्मति स्थिर करना और मुझको कहना। तब तक के लिए असहयोग स्थगित रक्खो। इतने स्वर्ग को स्वर्ग ही रहने दो और उसका वर्तमान कान्स्टिट्यूशन भी रहने दो। पीछे उसे मानव-लोक की ही भाँति बनाना चाहो तो दूसरी बात है। तबका तब देखा जायगा।"

उस समय से स्वर्गलोक में यद्यपि असहयोग स्थगित है, किन्तु इधर उनमें जोर-शोर से इस सम्बन्ध में विवेचन होने लगा है।

दुनिया में विवाह भी है, तलाक भी है। स्वच्छन्दता भी है,

परवशता भी है। सती भी है, वेश्या भी है। हर किसी बात का कुफल भी है, सुफल भी है। पाप-पुन्न आदि सभी कुछ है।

सो देवी-देवता लोग इसे देख रहे हैं और दुनिया की इस स्थिति की स्वर्ग लोक में बड़ी चर्चा चल रही है। पर यह निर्णय नहीं होने में आता है कि ब्रह्माजी के पास आखिर किस माँग को लेकर पहुँचा जाय ?

वे तीन

: १ :

गुरु चर्खे पर बैठे थे।

युवक ने आकर कहा, "वह बुढ़िया मर गई है।"

"मर गई है," आँख ऊपर उठाकर गुरु ने कहा।

"अच्छा चलो मैं आता हूँ।" कहकर चर्खा कातने लगे।

पोनी पूरी हो गई, सूत की आँटी बन गई, तब चर्खे को यथा-स्थान रखकर वह उठ खड़े हुए।

: २ :

कवि बौर से छाये आम के पेड़ की छाँह में घास पर बैठे बाँसुरी बजा रहे थे।

"कवि, बाँसुरी रोकोगे?" गुरु बोले, "वह बुढ़िया मर गई है। जमना चल सकोगे?"

कवि ने बाँसुरी जेब में रख ली। आँसू नहीं आने दिए।

मर गई है! तत्क्षण कंपित स्वर में उन्होंने भी कहा, "अच्छा चलो।"

: ३ :

शव बीच में था। लोग रोने को उद्यत थे। युवक डबडबाई आँखों से किनारे खड़ा देखता था।

गुरु बोले, "रथी अब तक नहीं बनाकर रख सके हो? लाओ, मुझे दो बाँस-वाँस।"

वह यह काम करने लगे।

कवि की इच्छा हुई बाँसुरी को यहाँ तनिक सुबक लेने देते।

रथी बनी। कवि ने पहला कन्धा देते हुए कहा, "आओ भाइयो, चलो। यात्रा प्रस्तुत है।"

गुरु ने स्थिर उच्छ्वास में कहा, "राम नाम सत्य है।"

गूँज गूँजी, "राम नाम सत्य है।"

: ४ :

चिता की लपटें हार-कर बैठने लगीं। अब राख भर रह जायगी।

गुरु ने कहा, "हम नहा धो डालें। चलें, अपने काम में लगें।"

धूप में सन्नाटा खींचे मरघट में युवक सुन्न खड़ा था।

यमुना चुपचुपायी बहती थी।

लोग सूने शून्य को देखते थे। शून्य लपटों की झुलस में स्पंदनशील हो उठा।

कवि ने चाहा—हँसे, गाये, रोये।

: ५

गुरु लौट चले। कहा, "चलो।"

"ठहरो" कवि ने कहा, "आओ, अब विराट् के इस आतिथ्य-प्रांगण में मैं बाँसुरी बजाऊँ। सुनो"

गुरु ने कहा, "कवि तुम कृपालु हो। मुझे कुछ सूत कातना शेष है। और, और लोगों को भी मरना है। मैं जाऊँगा।"

गुरु चले गए।

बाँसुरी के रन्ध्र-रन्ध्र में फूट कर कवि की आत्मा धूप से धौले आकाश की गोद के कोने-कोने में टकराती, विकल, पूछती मँडराने लगी, "ओ राम, तू सत्य है। पर कहाँ है? मेरी वंशी की गुहार सब ओर खोज-खोज कर मेरे ही कानों में खो रही है। तू कहाँ है? मेरी गुहार को, अरे, तेरी गोद में आश्रय नहीं है? ओ राम, तू सत्य है। पर, कहाँ है?"

युवक ने देखा, उसका विषाद तरल हो कर हलका मीठा पड़ रहा है।

: ६ :

युवक ने कहा, "गुरु अब?"

गुरु चर्खे पर बैठे थे।

कहा, "अब ?, यह प्रश्न छोड़ो। बहुतों को,—सब को—मारना शेष है। जो मौत के पास पहुँचे हैं, उनके पास पहुँचो। कर्म यही है। इसमें 'अब?' को अवकाश कहाँ है?"

युवक ने कहा, "गुरो!"

गुरु ने कहा, "जाओ।"

एक दिन

रात बीत गई। अगला सबेरा आ गया।

मैंने कहा, "माँ, कैसा जी है ?"

माँ ने कहा, "जी वैसा ही है। बेटा, आज मैं अस्पताल नहीं जा सकूँगी। देह में इतना दम नहीं अब रह गया है। डोली में जाऊँ, किसी में जाऊँ, हार जाती हूँ। साँस फूल जाता है, शरीर पीर देने लगता है। बेटा, दवाई से भी कुछ आराम नहीं है। अब तू रहने दे, परमात्मा के आसरे छोड़ दे। जाना है, तो मुझे चली ही जाने दे। नाहक तुझे भी दुःख दे रही हूँ, और सबको भी दे रही हूँ।"

मैंने तत्परता के साथ कहा, "सो क्या है, अम्मा ! अस्पताल क्यों जाना, डाक्टर यहीं देख जायगा।"

माँ ने कहा, "देखेगा, तो हाँ यहीं देख जायगा।"

मैंने कहा, "हाँ, जरूर यहीं देख जायगा, माँ ! फिक्र किस बात की है !"

माँ कुछ कहे कि खाँसी का दौरा आ उठा। मैंने माँ को माथा

पकड़कर सँभाल लिया। पर वह सँभले न सँभल पाती थी। साँस धोंकनी की तरह चलता था, आँख माथे में चढ़-चढ़ जाती थीं, और भीतर सब अंजर-पंजर को तोड़ती आती हुई खाँसी कहीं जमे कम्बख्त कफ़ को तनिक भी उखाड़ कर अपने साथ न ला पाती थी। इससे खाँसी आती थी, और आती थी। मिनट-के-मिनट होगये। मुझ पर क्या-क्या न बीत गया। कि अन्त में खाँसी के साथ मौत की गाँठ-सा थोड़ा-सा सफेद कफ टूट कर आया, और माँ आँख मीच-कर मूर्छित हो पड़ीं। मैंने कपड़े से कफ पोंछा, और उन्हें चुपचाप खाट पर लिटा दिया।

मैं झपट कर अपनी मेज पर आ गया, कार्ड खींचकर लिखा—

"श्रीमन्,

दिवाली कल की बीत गई। बार-बार लिखने की मेरी शक्ति कब बीत जाय, जानता नहीं...।"

कि श्री—ने आकर कहा, "घी आज शाम तक हो जाय तो हो जाय। खुरच-खुरच कर खैर आज तो कर लूँगी। कल के लिए बिल्कुल नहीं है।"

मैंने कहा, "घी?"

उसने कहा, "और दूध-वाले का अब तीसरा महीना लग जायगा। उसका आदमी आया था।"

डाक्टर की पाँच रुपया फीस है, और रुपये का बारह छटाँक घी आता है, और बारह छटाँक घी दो दिन में लग जाता है, और तेरह आने के बावन पैसे होते हैं। पाँच और दो सात होते हैं, और वही जेब में सात पैसे जरूर हैं, और दूध वाले का तीसरा महीना लग जायगा...

मैंने ज़ोर से कहा, "घी नहीं है तो वक्त-के-वक्त कहा जाता है ! पहले से क्यों नहीं कहकर रखा ?"

"पहले से नहीं कहा ! कब से तो कहती आ रही हूँ ।"

मैंने और ज़ोर से कहा, "नहीं कहती आ रहीं। एक बार कहतीं तो न आ जाता ?"

उसने धीमे से कहा, "तो अब कह रही हूँ, सही। अभी मँगा दो ।"

मैंने ज़ोर से कहा, "और नहीं भी मँगा दूँगा क्या ? घी के विना मुझ से एक दिन न खाया जायगा ।"

"और दूध-वाला.......?"

मैंने कहा, "फिर वही—हाँ, दूध-वाले को भी दिया जायगा। कह दिया, बस दिया जायगा ।...

वह लौट कर जाने लगी, और कहती गई, "कल के लिए घी बिल्कुल नहीं है ।"...

और मैंने उसकी पीठ पर चिल्ला कर कहा, "हाँ, सुन लिया, सुन लिया ।"—

मैं पीठ को कुर्सी पर भली भाँति टिकाकर लेट रहा, और सामने दीवार में देखा......घी रुपये का बारह छटाँक आता है, और डाक्टर की पाँच रुपया फीस है, और इकन्नी और तीन पैसे जो मिलकर सात होते हैं, सो वे ही सात पैसे ज़रूर मेरी जेब में हैं ।......

कि मैं एकदम जगा। सामने लेटे हुए कार्ड को पढ़ा। लिखा था—

"श्रद्धास्पद श्रीमन्,

दिवाली कब की बीत गई। बार-बार लिखने की शक्ति मेरी कब बीत जाय, जानता नहीं......।"

खुश होकर मैंने उस कार्ड को अपने पास खींच लिया। लिखा, "......शक्ति कब एकदम बीत जाय, सच, नहीं जानता। आप नहीं जान सकते, ताँबे के हर पैसे की ज़रूरत में होना क्या चीज़ है। पर क्या आप मुझ से सुनकर मान भी नहीं सकते कि यह बड़ी चीज़ है, भारी चीज़ है? किताब के मेरे पैसे आप......।"

सुना, कि घर में कहीं मेरी ज़रूरत है।

गया, कि बहन ने कहा, "देख भाई, यहाँ आ!"

कमरे में ले गई, और दिखाया, एक कोने में रूठा लल्लू बैठा हुआ है। मुँह फूला है, और लड़ता है।

मैंने कहा, "क्या है, रे?"

बहन ने कहा, "वह शरम के मारे मदरसे नहीं जाता। मास्टर कहते हैं। और स्लेट उसकी फूट गई है।"

लल्लू ने चिल्लाकर कहा, "तो मैंने नहीं फोड़ी—हाँ—तो...।"

मैंने कहा, "तो, क्यों रे, मदरसे नहीं जायगा तू?"

वह गुम हो बैठा, और बहन ने हँसकर कहा, "यह तो नहीं जायगा! देखो न, लड़का होकर शरम सताती है! एक भद्दी मोटी स्लेट लाकर दे दे, नहीं तो, अच्छी स्लेट रोज़-रोज़ इसे तोड़ने के लिए कौन लाता फिरेगा?"

लल्लू ने चिल्लाकर कहा, "मैंने नहीं तोड़ी है स्लेट।"

मैंने कहा, "तो चल रे, स्कूल चल, दुपहर आ जायगी तेरी स्लेट।"

मैं लौटकर आने लगा।

बहन ने कहा, "देख, ला दीजो भाई स्लेट आज दोपहर। नहीं

को तुड़-मुड़कर लाल-लाल रेखाओं से खिंचा कुछ बना था, जो शाप के चक्र की भाँति मुझे भरपूर देखता वहाँ बैठा रहा।

मैंने अपनी जेब का कार्ड निकाल फाड़ फेंका, और मैं कुरसी पर बैठ गया। निरुद्देश्य सामने देखने लगा, और देखने लगा— सामने वह दीवार, सफेद, फक, खड़ी-की-खड़ी ही रही, और उसके आरपार मुझे कुछ भी दिखलाई नहीं दे सका!

बाहुबली

बहुत पहले की बात कहते हैं। तब दो युगों का सन्धि-काल था। भोग-युग के अस्त में से कर्म-युग फूट रहा था। भोग-काल में जीवन मात्र भोग था। पाप-पुण्य की रेखा का उदय न हुआ था। कुछ निषिद्ध न था, न विधेय। अतः पाप असम्भव था, पुण्य अनावश्यक। जीवन बस रहना था। मनुष्य इतर प्रकृति के प्रति अपने आप में स्वत्व का अनुभव नहीं करने लगा था और प्रकृति भी उसके प्रति पूर्ण वदान्य थी। वृक्ष कल्पवृक्ष थे। पुरुष तन ढाँकने को बल्कल उनसे लेता, पेट भरने को फल। उसकी हर बात प्रकृति ओढ़ लेती। विवाह न था और परस्पर सम्बन्धों में नातों का आरोप न हुआ था। स्त्री माता, बहन, पत्नी, पुत्री न थी; वह मात्र मादा थी। और पुरुष नर। अनेक थल-चर प्राणियों में मनुष्य भी एक था और उन्हीं की भाँति जीता था।

उस युग के तिरोभाव में से नवीन युग का आविर्भाव हो रहा था। प्रकृति अपने दाक्षिण्य में मानो कृपण होती लगती थी। उस समय विवाह ढूँढ़ा गया। परिवार बनने लगे, और परिवारों में समाज। नियम-कानून भी उठे। "चाहिए" का प्रादुर्भाव हुआ

और मनुष्य को ज्ञात हुआ कि जीना रहना नहीं है, जीना करना है। भोग से अधिक जीवन कर्म है और प्रकृति को ज्यों-का-त्यों लेकर बैठने से नहीं चलेगा। कुछ उस पर संशोधन, परिवर्धन, कुछ उस पर अपनी इच्छा का आरोप भी आवश्यक है। बीज उगाना होगा, कपड़े बनाने होंगे, जीवन-संचालन के लिए नियम स्थिर करने होंगे और जीवन-संवृद्धि के निमित्त उपादानों का भी निर्माण और संग्रह कर लेना होगा। अकेला व्यक्ति अपूर्ण है, अक्षम है, असत्य है। सहयोग स्थापित करके परिवार, नगर, समाज बना कर पूर्णता, क्षमता और सत्यता को पाना होगा।

ठीक जब की बात कहते हैं तब व्यक्ति व्यष्टि-सत्ता से समष्टि-सिद्धि की ओर बढ़ चला था। राजा जैसी वस्तु की आवश्यकता हो चली थी। पर राजा जो राजत्व की संस्था पर न खड़ा हो, प्रजा की मान्यता पर खड़ा हो। यह तो पीछे से हुआ कि राजत्व की संस्था बनी और शिक्षा और न्याय विभाग-रूप में शासन से पृथक हुए। नगर बन चले थे और जीवन-यापन नितान्त स्वाभाविक कर्म न रह गया था। उसके लिए उद्यम की आवश्यकता थी।

*　　　*　　　*

इस भाँति प्रथम राज्य बना और प्रथम राजा हुए श्री आदि-नाथ। उनके दो पुत्र थे, दो पुत्रियाँ। पुत्र भरत और बाहुबली; पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी।

अवस्था के चतुर्थ खण्ड में ज्येष्ठ पुत्र को बुला कर श्री आदि-नाथ ने कहा, "पुत्र, अब तुम यह पद लो। मुझे अब दीक्षा लेनी चाहिये।"

भरत ने कहा, "महाराज—"

आदिनाथ ने कहा, "तुमको पहला चक्रवर्ती होना है। इस

राज्य से बाहर भी बहुत प्रान्त हैं, जिनको व्यवस्थित शासन तुम्हें देना है। मैं तो लोगों के मान लेने से उनका मुखिया हो गया था। उनको मुझे राजा कहने में सुख मिला। मैंने कहा, अच्छा। लेकिन तुम को साम्राज्य बनाना है। अपने लिए नहीं, लोगों में एकत्रता लाने के लिए। तुम को विजय-प्रसार का कर्तव्य भी करना होगा।"

भरत ने कहा, "महाराज, आप दीक्षा क्यों लें? मैं विजयध्वज फहरा न आऊँ और अपने को समर्थ न समझ लूँ तब तक आप अपना आशीर्वाद मुझ पर से न उठावें।"

आदिनाथ ने कहा, "पुत्र, अब समय आता जाता है कि राजा शासक अधिक हो, प्रजा का हमजोली उतना न हो। राजैश्वर्य से युक्त राजा को देखकर प्रजा समझती है कि उसने कुछ पाया है। तब तक उसका चित्त तुष्ट नहीं होता। मैं तो प्रजा के निम्नातिनिम्न जन से अपना हमजोलीपन नहीं तज सकता। किन्तु तुम्हारे लिए यह अनिवार्य नहीं है। तुम राजपुत्र हो। मैं तो साधारण पिता का पुत्र हूँ और जिस पद से शासन की आशा है उसके सर्वथा अयोग्य बन जाना चाहता हूँ। मुझे लोगों के दुःख में जाना चाहिए और मुझे उस मार्ग में से चल कर अपना कैवल्य पा लेना चाहिये।"

भरत ने निरुत्तर होकर सिर झुका लिया।

अगले दिन आदिनाथ ने दीक्षा ले ली। समस्त वस्त्राभरण और नगर त्याग कर वे निर्ग्रन्थ विहार कर गये। और भरत, चुप मन, जय-यात्रा पर चल दिये।

पृथ्वी के छहों खण्डों पर विजय स्थापित कर और बहुभाँति के मणि-मुक्ता, हय-गज और कन्या-सुन्दरियों की भेंट से युक्त भरत धूमधाम के साथ नगर को लौट कर आये।

किन्तु जब भरत नगर में प्रवेश करने लगे तब विचित्र घटना

हुई। चक्रवर्ती का शासन-चक्र नगर के भीतर प्रविष्ट नहीं होता था। प्रत्येक द्वार से नगर में प्रवेश करने के यत्न किये गये, किन्तु शासन-चक्र ने साथ न दिया। इस पर लोगों को बहुत अचरज हुआ। तब राजगुरु की शरण में जाकर इसके कारण के विषय में उन्होंने जिज्ञासा की। गुरु ने बताया कि इस नगर में एक व्यक्ति है जो अविजित है। उस पर जब तक विजय न पा ली जाय तब तक चक्रवर्तित्व अखण्ड नहीं होता। और उस समय तक यह शासन-चक्र नगर में प्रवेश न करेगा। राजगुरु ने यह भी बताया कि अभी तक जिन पर किसी ने विजय नहीं पाई है ऐसे व्यक्ति राजकुमार बाहुबली हैं।

भरत ने पूछा, "गुरुदेव, तब क्या बाहुबली से मुझे युद्ध करना होगा?"

राजकुमार ने कहा, "राजन्, तब तक चक्रवर्तित्व असिद्ध है।"

भरत ने कहा, "किन्तु मैं चक्रवर्ती नहीं होना चाहता।"

राजगुरु ने कहा, "राजर्षि, यह आपकी व्यक्तिगत इच्छा-अनिच्छा का प्रश्न नहीं है। यह राजकारण का प्रश्न है।"

भरत ने कहा, "गुरुदेव, क्या भाई से भाई को लड़ना होगा?"

गुरुदेव ने कहा, "राजन्, राजकारण गहन है। राजकारण-धर्मी का कौन भाई है, कौन भाई नहीं है?"

भरत नतमस्तक हुए।

* * *

पाँच युद्धों द्वारा शक्ति-परीक्षण का निश्चय हुआ। दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध आदि, और अन्त में मल्लयुद्ध।

आरम्भ के चारों युद्धों में बिना प्रयास बाहुबली ही विजयी हुए। बाहुबली इस विजय से विशेष उल्लसित नहीं दिखाई देते थे,

न भरत विशेष उदास। मल्लयुद्ध अन्तिम युद्ध था और उसके समय प्रजा की उत्सुकता इस भाई-भाई के द्वेषहीन युद्ध में बहुत बढ़ गई थी।

मल्लयुद्ध में कुछ देर के बाद बाहुबली ने भरत को दोनों हाथों पर ऊपर उठा लिया। इस समय दर्शकों के प्राण कण्ठ में आ बसे थे। वे प्रतिपल आशंका करने लगे कि चक्रवर्ती भरत अब धरती पर चित्त आ पड़ते हैं। किन्तु बाहुबली ने धीमे-धीमे अपने हाथों को नीचे किया और भरत पृथिवी पर सावधान खड़े दिखाई दिये। तदनन्तर नतशिर होकर बाहुबली ने दोनों हाथों से अपने बड़े भाई के चरण छुए।

भरत ने भी बाहुबली को अपनी छाती से लगा लिया। कहा, "बाहुबली, विजयी होओ। मुझे तुम पर गर्व है और मैं तुम्हारी विजय पर हर्षित हूँ। तुम सामर्थ्यशाली बनो।"

बाहुबली ने कहा, "यह आप क्या कहते हैं? आप ज्येष्ठ हैं, योग्य हैं। और मैं एक क्षण के लिए भी राज्य नहीं चाहता।"

भरत ने कहा, "भाई बाहुबली, वह तुम्हारा है। तुम उसके विजेता हो, उसके पात्र हो। और मैं अपना हृदय दिखा सकूँ तो तुम जानो मैं कितना प्रसन्न हूँ। तुम राजा बनो, मुझे अमात्य बनाओ, सेनापति बनाओ, अथवा जो चाहो सेवा लो।"

बाहुबली ने हाथ जोड़कर कहा, "भाई, मुझे राज्य की इच्छा नहीं है। इस विषय में आप राज्य-पालन का कर्तव्य मुझ पर न डालें। मैं दीक्षा लेना चाहता हूँ। मुझे राज्य आदि नहीं चाहिए।"

भरत ने बहुत कहा। परन्तु बाहुबली दीक्षा लेकर वन की ओर चले गये। भरत चुपचाप राज्य-रक्षा और राजत्व-पालन में लग गये।

* * *

बाहुबली ने घोर तपश्चरण किया, अति दुर्द्धर्ष, अति कठोर, अति निर्मम। वर्षों वे एक पैर से खड़े रहे। महीनों निराहार यापन किये। सुदीर्घ काल तक अखण्ड मौन साधे रखा। बरसों बाहर की ओर आँख खोलकर देखा तक नहीं।

उनकी इस तपस्या की कीर्ति दिग्दिगंत में फैल गई। देश-देश से लोग उनके दर्शन को आने लगे। भक्तों की संख्या न थी। उनकी महिमा और पूजा का परिमाण न था।

किन्तु बाहुबली भक्तों और उनकी पूजा से विमुख होकर घोर-से-घोरतर निर्जन दुष्प्राप्य एकान्त में चले जाते थे। एक स्थान पर एक बार अडिग, एकस्थ, एकाकी इतने काल तक खड़े रहे कि उनके सहारे बल्मीक जम गये, बेलें उठकर शरीर को लपेटने लगीं। उन बल्मीकों में कीड़े-मकोड़ों ने घर बना लिये।

इस कामदेवोपम सर्वाङ्गसुन्दर बलिष्ठ पुरुष ने निदारुण काय-क्लेश में वर्ष-के-वर्ष बिता डाले। लोग देखकर हा-हा खाते थे और निस्तब्ध रह जाते थे। उसकी स्पृहणीय काया मिट्टी बनी जा रही थी। स्त्रियाँ उस निमीलित-नेत्र, मग्न-मौन, शिला की भाँति खड़े हुए पुरुष-पुंगव के चरणों को धो-धोकर वह पानी आँखों लगाती थीं। उसके चरणों के पास की मिट्टी औषधि समझी जाती थी। पर वह सब ओर से विलग, अनपेक्ष, बन्द-आँख, बन्द-मुख, मलिन-देह, कृश-गात तपस्या में लीन था।

यह था, पर कैवल्य उसे नहीं प्राप्त हुआ, नहीं हुआ। ज्ञानी लोग इस पर किं-विमूढ थे।

* * *

जीवन्मुक्त भगवान् आदिनाथ से लोगों ने पूछा, "भगवन्,

दीर्घकाल से कुमार बाहुबली अतिशय कठोर तपश्चर्या कर रहे हैं। आपको ज्ञात तो है?"

भगवान् बोले, "हाँ, ज्ञात है।"

"उससे हमारा हृदय काँपता है। आप उन्हें इससे विरक्त करेंगे?"

भगवान् ने कहा, "नहीं। एकनिष्ठा के साथ जो किया जाता है उससे किसी का अपकार नहीं होता।"

लोगों ने पूछा, "किन्तु भगवन्, कुमार बाहुबली को अब तक कैवल्य-सिद्धि क्यों नहीं हो सकी?"

भगवान् ने कहा, "यह तुम पीछे जानोगे।

*　　　　*　　　　*

भरत राज्य-शासन चला रहे थे। प्रथम चक्रवर्ती भरत के ऐश्वर्य का पार न था। मणि-माणिक-मुक्ता की दीप्ति से उनका परिच्छद जगमग रहता था। उनके नाम का आतङ्क दिग्दिगन्त में छाया था। सब प्रकार के सुख-विलास और आमोद-प्रमोद के साधन उनके संकेत पर प्रस्तुत थे। और वे अपने अखण्ड निष्कण्टक चक्रवर्तित्व का उपभोग कर रहे थे।

इसको भी वर्ष-के-वर्ष होगये।

एक दिन भगवान् आदिनाथ के पास पहुँचकर भरत ने कहा, "भगवन्, भाई बाहुबली को यह अधिकार मिला कि वह मुझ को छोड़कर और राज्य को छोड़कर स्वाधीन रहें और सत्य को पाएँ। जो मेरे अधिकार में नहीं आता था, जो बाहुबली का होगया था, उस राज्य को लेने को मैं रह गया। मेरे लिए अस्वीकार करने को तनिक भी अवकाश नहीं छोड़ा गया। मुझे शिकायत नहीं है। लेकिन मैं आप से पूछता हूँ, क्या मैं अब दीक्षा नहीं ले सकता?"

भगवान् ने कहा, "ले सकते हो। अगर सत्य की खोज और सत्य की उपलब्धि राजत्व के द्वारा तुम्हारे निकट अगम्य बन गई है, तो तुम उसे अवश्य तज सकते हो। और मैं कह सकता हूँ, अगम्य बन जाना भी चाहिए। तुम पचास वर्ष से तो ऊपर के हुए न ?"

भरत सन्तुष्ट-चित्त महलों को लौट आये। और दो दिन बाद घोषणा होगई कि चक्रवर्ती अब दीक्षा लेंगे।

नगरवासियों में विकलता छा गई। साम्राज्य के प्रान्त-प्रान्त से विरोध में अनुनय-प्रार्थनाएँ आईं। किन्तु भरत ने एक प्रतिनिधि-सभा को अपना उत्तराधिकार देकर दीक्षा ले ली।

और, राज्याभरण उतारते-उतारते मुहूर्त्त के अन्तर में उन्हें निर्मल कैवल्य की उपलब्धि होगई।

* * *

लोगों ने क्लिष्ट भाव से भगवान् आदिनाथ की शरण में जाकर पूछा, "भगवन्, यह क्या बात है ? कुमार बाहुबली ने कितना घोर कायोत्सर्ग झेला, कैसा दुर्द्धर्ष तपश्चरण किया, आरम्भ से ही उन्होंने सब सुखों का विसर्जन किया, किन्तु उनको कैवल्य प्राप्त नहीं हुआ। और चक्रवर्ती भरत ने जीवन के अधिक भाग में ऐश्वर्य ही भोगा, प्राचुर्य ही देखा, विलास ही पाया। उनको राज-चिह्न उतारते-उतारते परम ज्ञान की प्राप्ति होगई ! भगवन्, बताइए, यह कैसे हुआ ? हमारा चित्त भ्रान्त है।

भगवान् ने सदय भाव से कहा, "बाहुबली अविजित है। यह वह बेचारा नहीं भूल सका है।"

लोगों को अनाश्वस्त पाकर खिन्न स्मित के साथ भगवान् ने फिर कहा, "बाहुबली के मन में से एक फाँस नहीं निकली है। वही एक

शल्य उसकी मुक्ति में काँटा है। उसके चित्त में यह खटक बनी हुई है कि जिस भूमि पर वह खड़ा है वह भरत के राज्यान्तर्गत है।"

* * *

बाहुबली के कानों में जब यह बात पहुँची, मन का काँटा एकदम निकल गया। जैसे एक साथ ही वे स्वच्छ होगये। आँखें खुल गईं, मौन-मुख मुस्करा उठा। उस मुस्कराहट में मन की अवशिष्ट ग्रन्थि खुलकर बिखर गई और मन मुकुलित होगया।

उनके चहुँ ओर वन में उस समय असंख्य भक्त नर-नारियों का मेला-सा लगा था। उन सबको अब उन्होंने अस्वीकार नहीं किया, उनका आवाहन किया। अपने आराध्य की यह प्रसन्न-वदन-मुद्रा देखकर लोगों के हर्ष का पारावार न था। बाहुबली ने अपने को उनके निकट हर तरह से सुगम बना लिया। कहा, "भाइयो, तुमने इस बाहुबली को आराध्य माना। उसकी आराध्यता समाप्त होती है। तपस्या बन्द होती है। तुमने शायद मेरे काय-क्लेश की पूजा की है। अब वह तुम मुझ में नहीं पाओगे। इसलिए मुझे आशा है कि तुम मुझे पूजा देना छोड़ दोगे। और यदि मेरी अप्राप्यता का तुम आदर करते थे तो वह भी नहीं पाओगे। मैं सबके प्रति सदा सुप्राप्त रहने की स्थिति में ही अब रहूँगा।"

बाहुबली ने निर्मल कैवल्य पाया था। ग्रन्थियाँ सब खुल गई थीं। अब उन्हें किसी की ओर से बन्द रहने की आवश्यकता थी? वे चहुँ ओर खुले, सबके प्रति सुगम रहने लगे।

यह देख धीरे-धीरे भक्तों की भीड़ उजड़ने लगी और परम योगी बाहुबली की शरण में अब शान्ति के लिए विरल ज्ञानी और जिज्ञासु लोग ही आते थे।

तत्सत्

एक गहन वन में दो शिकारी पहुँचे। वे पुराने शिकारी थे। शिकार की टोह में दूर-दूर घूमे थे, लेकिन ऐसा घना जंगल उन्हें नहीं मिला था। देखते जी में दहशत होती थी। वहाँ एक बड़े पेड़ की छाँह में उन्होंने वास किया और आपस में बातें करने लगे।

एक ने कहा, "ओह, कैसा भयानक जंगल है!"

दूसरे ने कहा, "और कितना घना!"

इसी तरह कुछ देर बात करके और विश्राम करके वे शिकारी आगे बढ़ गए।

उनके चले जाने पर पास के शीशम के पेड़ ने बड़ से कहा, "बड़ दादा, अभी तुम्हारी छाँह में ये कौन थे? वे गए?"

बड़ ने कहा, "हाँ गए। तुम उन्हें नहीं जानते हो?"

शीशम ने कहा. "नहीं वे बड़े अजब मालूम होते थे। कौन थे, दादा?"

दादा ने कहा, "जब छोटा था तब इन्हें देखा था। इन्हें आदमी कहते हैं। इनमें पत्ते नहीं होते, तना-ही-तना होता है। देखा, वे

चलते कैसे हैं ? अपने तने की दो शाखों पर ही चलते चले जाते हैं।''

शीशम, "ये लोग इतने ही ओछे रहते हैं, ऊँचे नहीं उठते क्यों दादा ?"

बड़ दादा ने कहा, "हमारी-तुम्हारी तरह इनमें जड़ें नहीं होतीं। बढ़ें तो काहे पर ? इससे वे इधर-उधर चलते रहते हैं, ऊपर की ओर बढ़ना उन्हें नहीं आता। बिना जड़ न-जाने वे जीते किस तरह हैं।"

इतने में बबूल, जिसमें हवा साफ छन कर निकल जाती थी, रुकती नहीं थी और जिसके तन पर काँटे थे, बोला, "दादा, ओ दादा, तुमने बहुत दिन देखे हैं। यह बताओ कि किसी वन को भी देखा है। ये आदमी किसी भयानक वन की बात कर रहे थे। तुमने उस भयावने वन को देखा है ?"

शीशम ने कहा, "दादा, हाँ, सुना तो मैंने भी था। वह वन क्या होता है ?"

बड़ दादा ने कहा, "सच पूछो तो भाई, इतनी उमर हुई, उस भयावने वन को तो मैंने भी नहीं देखा। सभी जानवर मैंने देखे हैं। शेर, चीता, भालू, हाथी, भेड़िया। पर वन नाम के जानवर को मैंने अब तक नहीं देखा।"

एक ने कहा, "मालूम होता है वह शेर चीतों से भी डरावना होता है।"

दादा ने कहा, "डरावना जाने तुम किसे कहते हो। हमारी तो सबसे प्रीति है।"

बबूल ने कहा, "दादा, प्रीति की बात नहीं है। मैं तो अपने

पास काँटे रखता हूँ। पर वे आदमी वन को भयावना बताते थे। जरूर वह शेर चीतों से बढ़कर होगा।"

दादा, "सो तो होता ही होगा। आदमी एक टूटी-सी टहनी से आग की लपट छोड़कर शेर-चीतों को मार देता है। उन्हें ऐसे मरते अपने सामने हमने देखा है। पर वन की लाश हमने नहीं देखी। वह जरूर कोई बड़ा खौफ़नाक होगा।"

इसी तरह उनमें बातें होने लगीं। वन को उनमें से कोई नहीं जानता था। आस-पास के और पेड़ साल, सेंमर, सिरस उस बात-चीत में हिस्सा लेने लगे। वन को कोई मानना नहीं चाहता था। किसी को उसका कुछ पता नहीं था। पर अज्ञात भाव से उसका डर सब को था। इतने में पास ही जो बाँस खड़ा था और जो ज़रा हवा पर खड़-खड़ सन्-सन् करने लगता था, उसने अपनी जगह से ही सीटी-सी आवाज देकर कहा, "मुझे बताओ, मुझे बताओ क्या बात है। मैं पोला हूँ। मैं बहुत जानता हूँ।"

बड़ दादा ने गम्भीर वाणी से कहा, "तुम तीखा बोलते हो। बात है कि बताओ तुमने वन देखा है? हम लोग सब उसको जानना चाहते हैं।"

बाँस ने रीती आवाज से कहा, "मालूम होता है हवा मेरे भीतर के रिक्त में वन-वन-वन-बन ही कहती हुई घूमती रहती है। पर ठहरती नहीं। हर घड़ी सुनता हूँ, वन है। पर मैं उसे जानता नहीं हूँ। क्या वह किसी को दीखा है।"

बड़ दादा ने कहा, "बिना जाने फिर तुम इतना तेज क्यों बोलते हो?

बाँस ने सन्-सन् की ध्वनि में कहा, "मेरे अन्दर हवा इधर से

उधर बहती रहती है; मैं खोखला जो हूँ। मैं बोलता नहीं, बजता हूँ। वही मुझमें से बोलती है।"

बड़ ने कहा, "वंश बाबू, तुम घने नहीं हो, सीधे-ही-सीधे हो। कुछ भरे होते तो झुकना जानते। लम्बाई में सब-कुछ नहीं है।"

वंश बाबू ने तीव्रता से खड़-खड़ सन्-सन् किया कि ऐसा अपमान वह नहीं सहेंगे। देखो वह कितने ऊँचे हैं!

बड़ दादा ने उधर से आँख हटाकर फिर और लोगों से कहा कि हम सब को घास से इस विषय में पूछना चाहिए। उसकी पहुँच सब कहीं है। वह कितनी व्याप्त है। और ऐसी बिछी रहती है कि किसी को उससे शिकायत नहीं होती।

तब सबने घास से पूछा, "घास री घास, तू वन को जानती है?"

घास ने कहा, "नहीं तो दादा, मैं उन्हें नहीं जानती। लोगों की जड़ों को ही में जानती हूँ। उनके फल मुझ से ऊँचे रहते हैं। पदतल के स्पर्श से सब का परिचय मुझे मिलता है। जब मेरे सिर पर चोट ज्यादा पड़ती है, समझती हूँ यह ताकत का प्रमाण है। धीमे कदम से मालूम होता है यह कोई दुखियारा जा रहा है। दुःख से मेरी बहुत बनती है, दादा! मैं उसी को चाहती हुई यहाँ से वहाँ तक बिछी रहती हूँ। सभी कुछ मेरे ऊपर से निकलता है। पर वन को मैंने अलग करके कभी नहीं पहचाना।"

दादा ने कहा, "तुम कुछ नहीं बतला सकतीं?"

घास ने कहा, "मैं बेचारी क्या बतला सकती हूँ, दादा!"

तब बड़ी कठिनाई हुई। बुद्धिमती घास ने जवाब दे दिया। वाग्मी वंश बाबू भी कुछ न बता सके। और बड़ दादा स्वयं अत्यन्त

जिज्ञासु थे। किसी की समझ में नहीं आया कि वन नाम के भयानक जन्तु को कहाँ से कैसे जाना जाय।

इतने में पशुराज सिंह वहाँ आये। पैने दाँत थे, बालों से गर्दन शोभित थी, पूँछ उठी थी। धीमी गर्वीली गति से वह वहाँ आये और किलक-किलक कर बहते जाते हुए निकट के एक चश्मे में से पानी पीने लगे।

बड़ दादा ने पुकार कर कहा, "ओ सिंह भाई, तुम बड़े पराक्रमी हो। जाने कहाँ-कहाँ छापा मारते हो। एक बात तो बताओ, भाई!"

शेर ने पानी पीकर गर्व से ऊपर को देखा। दहाड़ कर कहा, "कहो क्या कहते हो?"

बड़ दादा ने कहा, "हमने सुना है कि कोई वन होता है, जो यहाँ आस-पास है और बड़ा भयानक है। हम तो समझते थे कि तुम सबको जीत चुके हो। उस वन से कभी तुम्हारा मुकाबिला हुआ है? बताओ वह कैसा होता है?"

शेर ने दहाड़ कर कहा, "लाओ सामने वह वन, जो अभी मैं उसे फाड़ चीर कर न रख दूँ। मेरे सामने वह भला क्या हो सकता है?"

बड़ दादा ने कहा, "तो वन से कभी तुम्हारा सामना नहीं हुआ?"

शेर ने कहा, "सामना होता तो क्या वह जीता बच सकता था। मैं अभी दहाड़ देता हूँ। हो अगर कोई वन, तो आये वह सामने। खुली चुनौती है। या वह है या मैं हूँ।"

ऐसा कहकर उस वीर सिंह ने वह तुमुल घोर गर्जन किया कि दिशाएँ काँपने लगीं। बड़ दादा के देह के पत्र खड़-खड़ करने लगे। उनके शरीर के कोटर में वास करते हुए शावक चीं-चीं कर उठे।

चहुँ ओर जैसे आतंक भर गया। पर वह गर्जना गूँजकर रह गई। हुँकार का उत्तर कोई नहीं आया।

सिंह ने उस समय गर्व से कहा, "तुमने यह कैसे जाना कि कोई वन है और वह आस-पास रहता है। जब मैं हूँ, आप सब निर्भय रहिए कि वन कोई नहीं है, कहीं नहीं है। मैं हूँ, तब किसी और का खटका आपको नहीं रखना चाहिए।"

बड़ दादा ने कहा, "आपकी बात सही है। मुझे यहाँ सदियाँ हो गई हैं। वन होता तो दीखता अवश्य। फिर आप हो, तब कोई और क्या होगा। पर वे दो शाख पर चलने वाले जीव जो आदमी होते हैं, वे ही यहाँ मेरी छाँह में बैठकर उस वन की बात कर रहे थे। ऐसा मालूम होता है कि ये बे-जड़ के आदमी हमसे ज्यादा जानते हैं।"

सिंह ने कहा, "आदमी को मैं खूब जानता हूँ। मैं उसे खाना पसन्द करता हूँ। उसका माँस मुलायम होता है; लेकिन वह चालाक जीव है। उसको मुँह मारकर खा डालो, तब तो वह अच्छा है, नहीं तो उसका भरोसा नहीं करना चाहिए। उसकी बात-बात में धोखा है।"

बड़ दादा तो चुप रहे, लेकिन औरों ने कहा कि सिंहराज, तुम्हारे भय से बहुत-से जन्तु छिपकर रहते हैं। वे मुँह नहीं दिखाते। वन भी शायद छिपकर रहता हो। तुम्हारा दबदबा कोई कम तो नहीं है। इससे जो साँप धरती में मुँह गाड़कर रहता है, ऐसी भेद की बातें उससे पूछनी चाहिएँ। रहस्य कोई जानता होगा तो अँधेरे में मुँह गाड़कर रहने वाला साँप-जैसा जानवर ही जानता होगा। हम पेड़ तो उजाले में सिर उठाये खड़े रहते हैं। इसलिए हम बेचारे क्या जानें।

शेर ने कहा कि जो मैं कहता हूँ वही सच है। उसमें शक करने की हिम्मत ठीक नहीं है। जब तक मैं हूँ, कोई डर न करो। कैसा साँप और कैसा कुछ और। क्या कोई मुझसे ज्यादा जानता है?

बड़ दादा यह सुनते हुए अपनी डाढ़ी की जटाएँ नीचे लटकाए बैठे रह गए, कुछ नहीं बोले। औरों ने भी कुछ नहीं कहा। बबूल के काँटे जरूर उस वक्त तनकर कुछ उठ आये थे। लेकिन फिर भी बबूल ने धीरज नहीं छोड़ा और मुँह नहीं खोला।

अन्त में जम्हाई लेकर मंथर गति से सिंह वहाँ से चले गये।

भाग्य की बात कि सांझ का झुटपुटा होते-होते चुप-चाप घास में से जाते हुए दीख गये चमकीली देह के नागराज। बबूल की निगाह तीखी थी। झट से बोला, "दादा! ओ बड़ दादा; वह जा रहे हैं सर्पराज। ज्ञानी जीव हैं। मेरा तो मुँह उनके सामने कैसे खुल सकता है। आप पूछो तो जरा कि वन का ठौर-ठिकाना क्या उन्होंने देखा है।"

बड़ दादा शाम से ही मौन हो रहते हैं। यह उनकी पुरानी आदत है। बोले, "संध्या आ रही है। इस समय वाचालता नहीं चाहिए।"

बबूल झक्की ठहरे। बोले, "बड़ दादा, साँप धरती से इतना चिपट-कर रहते हैं कि सौभाग्य से हमारी आँखें उन पर पड़ती हैं। और यह सर्प अतिशय श्याम हैं इससे उतने ही ज्ञानी होंगे। वर्ण देखिये न, कैसा चमकता है। अवसर खोना नहीं चाहिए। इनसे कुछ रहस्य पा लेना चाहिये।"

बड़ दादा ने तब गम्भीर वाणी से साँप को रोक कर पूछा कि हे नाग, हमें बताओ कि वन का वास कहाँ है और वह स्वयं क्या है?

साँप ने साश्चर्य कहा, "किसका वास ? वह कौन जन्तु है ? और उसका वास पाताल तक तो कहीं है नहीं।"

बड़ दादा ने कहा कि हम कोई उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते। तुम से जानने की आशा रखते हैं। जहाँ जरा छिद्र हो वहां तुम्हारा प्रवेश है। कोई टेढ़ा-मेढ़ापन तुम से बाहर नहीं है। इससे तुम से पूछा है।

साँप ने कहा, "मैं धरती के सारे गर्त्त जानता हूँ। भीतर दूर तक पैठ कर उसी के अन्तर्भेद को पहचानने में लगा रहता हूँ। वहाँ ज्ञान की खान है। तुमको अब क्या बताऊँ। तुम नहीं समझोगे। तुम्हारा वन, लेकिन कोई गहराई की सचाई नहीं जान पड़ती। वह कोई बनावटी सतह की चीज़ है। मेरा वैसी ऊपरी और उथली बातों से वास्ता नहीं रहता।"

बड़ दादा ने कहना चाहा कि तो वन—

सांप ने कहा, "वह फर्जी है।" यह कह कर वह आगे बढ़ गये।

मतलब यह है कि सब जीव-जन्तु और पेड़-पौधे आपस में मिले और पूछताछ करने लगे कि वन को कौन जानता है और वह कहाँ है, क्या है ? उनमें सब को ही अपना-अपना ज्ञान था। अज्ञानी कोई नहीं था। पर उस वन का जानकार कोई नहीं था। एक नहीं जाने, दो नहीं जानें, दस-बीस नहीं जानें। लेकिन जिस को कोई भी नहीं जानता ऐसी भी भला कोई चीज़ कभी हुई है या हो सकती है ? इसलिये उन जंगली जन्तुओं में और वनस्पतियों में खूब चर्चा हुई, खूब चर्चा हुई। दूर-दूर तक उसकी तू-तू-मैं-मैं सुनाई देती थी। ऐसी चर्चा हुई, ऐसी चर्चा हुई कि विद्याओं-पर-विद्याएँ उसमें से प्रस्तुत हो गईं। अन्त में तय पाया कि दो टाँगों

वाला आदमी ईमानदार जीव नहीं है। उसने तभी वन की बात बनाकर कह दी है। वह बन गया है। सच में वह नहीं है।

उस निश्चय के समय बड़ दादा ने कहा कि भाइयो, उन आद-मियों को फिर आने दो। इस बार साफ़-साफ़ उन से पूछना है कि बताएँ, वन क्या है। बताएँ तो बताएँ, नहीं तो ख्वाहम-ख्वाह झूठ बोलना छोड़ दें। लेकिन उनसे पूछने से पहले उस वन से दुश्मनी ठानना हमारे लिये ठीक नहीं है। वह भयावना सुनते हैं। जाने वह और क्या हो?

लेकिन बड़ दादा की वहाँ विशेष चली नहीं। जवानों ने कहा कि ये बूढ़े हैं, उनके मन में तो डर बैठा है। और जंगल के न होने का फैसला पास हो गया।

एक रोज आफ़त के मारे फिर वे शिकारी उस जगह आए। उनका आना था कि जंगल जाग उठा। बहुत-से जीव-जन्तु झाड़ी-पेड़ तरह-तरह की बोली बोल कर अपना विरोध दरसाने लगे। वे मानो उन आदमियों की भर्त्सना कर रहे थे। आदमी बिचारों को अपनी जान का संकट मालूम होने लगा। उन्होंने अपनी बन्दूकें सम्भालीं। इस टूटी-सी टहनी को, जो आग उगलती है, वह बड़ दादा पहचानते थे। उन्होंने बीच में पड़कर कहा, "अरे, तुम लोग अधीर क्यों होते हो। इन आदमियों के खतम हो जाने से हमारा तुम्हारा फैसला निर्भ्रम नहीं कहलायेगा। जरा तो ठहरो। गुस्से से कहीं ज्ञान हासिल होता है? ठहरो, इन आदमियों से उस सवाल पर मैं खुद निपटारा किये लेता हूँ।" यह कहकर बड़ दादा आद-मियों को मुखातिब करके बोले, "भाई आदमियो, तुम भी इन पोली चीज़ों का नीचा मुँह करके रखो जिनमें तुम आग भर-कर लाते

हो। डरो मत। अब यह बताओ कि वह जंगल क्या है जिसकी तुम बात किया करते हो? बताओ वह कहां है।"

आदमियों ने अभय पाकर अपनी बन्दूकें नीची कर लीं और कहा, "यह जंगल ही तो है जहाँ हम सब हैं।"

उनका इतना कहना था कि चींचीं-कींकीं सवाल-पर-सवाल होने लगे।

"जंगल यहाँ कहाँ है? कहीं नहीं है।"

"तुम हो। मैं हूँ। यह है। वह है। जंगल फिर हो कहाँ सकता है।"

"तुम झूठे हो।"

"धोखेबाज!"

"स्वार्थी!"

"ख़तम करो इनको।"

आदमी यह देखकर डर आये। बन्दूकें सम्भालना चाहते थे कि बड़ दादा ने मामला सम्भाला और पूछा. "सुनो आदमियो, तुम झूठे साबित होगे तभी तुम्हें मारा जायगा। क्या यह आग-फेंकनी लिये फिरते हो। तुम्हारी बोटी का पता न मिलेगा। और अगर झूठे नहीं हो, तो बताओ, जंगल कहाँ है?"

उन दोनों आदमियों में से प्रमुख ने विस्मय से और भय से कहा, "हम सब जहाँ हैं वहीं तो जंगल है।"

बबूल ने अपने काँटे खड़े करके कहा, "बको मत, वह सेमर है, वह सिरस है, साल है, वह घास है। वह हमारे सिंहराज हैं। वह पानी है। वह धरती है। तुम जिनकी छाँह में हो वह हमारे बड़ दादा हैं। तब तुम्हारा जंगल कहाँ है, दिखाते क्यों नहीं? तुम हमको धोखा नहीं दे सकते।"

प्रमुख पुरुष ने कहा, "यह सब-कुछ ही जंगल है।"

इस पर गुस्से में भरे हुए कई वनचरों ने कहा, "बात से बचो नहीं। ठीक बताओ, नहीं तो तुम्हारी खैर नहीं है।"

अब आदमी क्या कहें, परिस्थिति देखकर वे बेचारे जान से निराश होने लगे। अपनी मानवी बोली में (अब तक प्राकृतिक बोली में बोल रहे थे) एक ने कहा, "यार, कह क्यों नहीं देते कि जंगल नहीं है। देखते नहीं, किन से पाला पड़ा है!"

दूसरे ने कहा, "मुझ से तो कहा नहीं जायगा।"

"तो क्या मरोगे?"

"सदा कौन जिया है। इससे इन भोले प्राणियों को भुलावे में कैसे रखूँ।"

यह कहकर प्रमुख पुरुष ने सबसे कहा, "भाइयो, जंगल कहीं दूर या बाहर नहीं है। आप लोग सभी वह हो।"

इस पर फिर गोलियों-से सवालों की बौछार उन पर पड़ने लगी।

"क्या कहा? मैं जंगल हूँ? तब बबूल कौन है?"

"झूठ! क्या मैं यह मानूँ कि मैं बाँस नहीं जंगल हूँ। मेरा रोम-रोम कहता है, मैं बाँस हूँ।"

"और मैं घास?"

"और मैं शेर।"

"और मैं साँप।"

इस भाँति ऐसा शोर मचा कि उन बेचारे आदमियों की अकल गुम होने को आ गई। बड़ दादा न हों, तो आदमियों का काम वहाँ तमाम था।

उस समय आदमी और बड़ दादा में कुछ ऐसी धीमी-धीमी बातचीत हुई कि वह कोई सुन नहीं सका। बातचीत के बाद वह

पुरुष उस विशाल बड़ के वृक्ष के ऊपर चढ़ता दिखाई दिया। चढ़ते-चढ़ते वह उसकी सबसे ऊपर की फुनगी तक पहुँच गया। वहाँ दो नये-नये पत्तों की जोड़ी खुले आसमान की तरफ मुस्कराती हुई देख रही थी। आदमी ने उन दोनों को बड़े प्रेम से पुचकारा। पुचकारते समय ऐसा मालूम हुआ जैसा मन्त्र-रूप में उन्हें कुछ सन्देश भी दिया है।

वन के प्राणी यह सब-कुछ स्तब्ध भाव से हुए देख रहे थे। उन्हें कुछ समझ में न आ रहा था।

देखते-देखते पत्तों की वह जोड़ी उद्ग्रीव हुई। मानो उनमें चैतन्य भर आया। उन्होंने अपने आस-पास और नीचे देखा। जाने उन्हें क्या दिखा, कि वे काँपने लगे। उनके तन में लालिमा व्याप गई। कुछ क्षण बाद मानो वे एक चमक से चमक आये। जैसे उन्होंने खण्ड को कुल में देख लिया। देख लिया कि कुल है, खण्ड कहाँ है।

वह आदमी अब नीचे उतर आया था और अन्य वनचरों के समकक्ष खड़ा था। बड़ दादा ऐसे स्थिर-शान्त थे, मानो योगमग्न हों कि सहसा उनकी समाधि टूटी। वे जागे। मानो उन्हें अपने चरमशीर्ष से, अभ्यन्तरादभ्यन्तर में से, तभी कोई अनुभूति प्राप्त हुई हो।

उस समय सब ओर सप्रश्न मौन व्याप्त था। उसे भङ्ग करते हुए बड़ दादा ने कहा—

"वह है।"

कहकर वह चुप हो गए। साथियों ने दादा को सम्बोधित करते हुए कहा, "दादा, दादा!"......

दादा ने इतना ही कहा—

"वह है, वह है।"

"कहाँ है ? कहाँ है ?"

"सब कहीं है। सब कहीं है।"

"और हम ?"

"हम नहीं, वह है।"

हवा-महल

पिता के बाद युवराज राजा हुए। नई उनकी वय थी, प्रेम में पालन पाया था। लोक की रीति-नीति से अभी अनजान थे। मन में कुछ सपने थे, तबियत में ईषत् आग्रह। अनुभव था नहीं, सो स्वभाव में किसी कद्र मनमानापन था।

पर राजमन्त्री लोग अनुभवी थे, और जानकार थे। वे राजा को किशोर पाकर अप्रसन्न नहीं थे। सावधान रहना उनका काम था और वे राजकाज की गुरुता के बारे में नये राजा को सीख और चेतावनी देते रहते थे। इन राजकिशोर को सँभाल कर योग्य बनाना होगा, अतः वे राजा के आनन्द-विलास का ध्यान भी रखते थे।

एक रोज प्रधान राजमन्त्री ने महाराज के पास आकर कहा, "महाराज, वह महल, जिसमें आप रहते हैं, पुराना हो गया है। आपके पिता इसमें रहते थे, पिता के पिता इसमें रहते थे। नये महल नई तरह के होते हैं। नई तरह का नया महल एक बनना चाहिए। इतिहास के बड़े लोग अपनी निर्मित कृतियों से याद किये जाते हैं।

जो कीर्ति बड़ों से मिलती है उसका बढ़ाना पुत्र का धर्म है। महा-राज एक नया महल बनवाएँ।"

महाराज ने कहा, "वह नया महल कैसा हो ?"

मन्त्री, "हो ऐसा कि नये से नया। अपूर्व और सबसे सुन्दर और सब से ऊँचा।"

महाराज, "फिर उस महल में क्या हो ?"

मन्त्री, "हो क्या ! जो सुन्दर है सब हो। उस पर महाराज की पताका फहरे। उससे महाराज का सुयश चमके। उसमें महाराज वास करें।"

महाराज "तब इस महल का क्या हो ?"

मन्त्री, "कैसा प्रश्न महाराज ! राजमहल गृहस्थ के घर नहीं हैं। गृहस्थ का एक होता है, इससे वह भरा रहता है। राजा के महल अनेक होते हैं और वे कई-कई खाली रहते हैं। खाली महल राज-वैभव के लक्षण हैं। राजा के वैभव को देखकर प्रजा प्रसन्न होती है। राजप्रासाद प्रजा के सौभाग्य के सूचक हैं। प्रजा की प्रसन्नता राजा का कर्तव्य है।"

महाराज, "प्रजा को प्रसन्न रखने का यह उपाय है, मन्त्री जी ?"

मन्त्री, "प्रजा को सन्तोष के लिए विस्मय चाहिए। विस्मय पा कर स्फूर्ति जागृत होती है। ऐसा महल बनना चाहिए, महाराज, जो विस्मय-सा सुन्दर हो। वर्तमान उससे आतंकित हो रहे, भविष्य चकित हो जाय। बस, वह एक स्वप्न ही हो।"

महाराज, "स्वप्न-जैसा महल ! मन्त्रिवर, लोभ को शास्त्र बुरा बताते हैं। पर मैं अपनी ओर से आपके अधीन हूँ। उस स्वप्न-जैसे महल को कौन बनायेगा ?"

मन्त्री, "अनुज्ञा की देर है, हम सब सेवक किसलिए हैं ?"

महाराज, "वह देर मत मानिये ! बन सके तो महल क्यों न बनाने लग जाइए। प्रजा के सुख में बिलम्ब अनुचित है।"

मन्त्री, "जो आज्ञा। किन्तु आपने कुछ अहकाम ऐसे जारी कर दिये हैं कि हमारे हाथ बँधे हैं। राजकोष से इस बारे में व्यय का सुभीता, महाराज—"

महाराज, "राजकोष"

मन्त्री, "पचास लाख रुपया काफ़ी होगा, महाराज।"

महाराज, "मन्त्री, आपका अनुमान कहीं कम तो नहीं है ? उस द्रव्य से स्वप्न-सा महल बन जायगा ? फिर सोचिए, मंत्री जी।"

मन्त्री "हाँ महाराज, बल्कि कुछ पचास से भी कम लगाने की कोशिश की जायगी।"

महाराज, "तब तो स्वप्न-सा महल आप मुझे क्या दीजियेगा। पचास लाख तो, सुनते हैं, इसी महल में लग गये थे। क्या यह विस्मय-सा सुन्दर है ?"

मन्त्री, "महाराज, निश्चय रखिए, महल अपूर्व होगा और पचास लाख रुपया उसके लिए काफ़ी हो जायगा।"

महाराज "मन्त्री जी, आपका हिसाब सुन्दर नहीं है। सुनिये, हमारे राज्य की जनसंख्या दस लाख है। आपके रहते हुए हमारे वे लोग खुशहाल तो होंगे ही। इसलिये प्रत्येक पर दस दस रुपये का हिसाब तो भी पड़ना चाहिये। महल में लगाने के लिये एक करोड़ से कम की बात आपके मुँह से शोभा नहीं देती, मन्त्रिवर।"

मन्त्री, "जो महाराज की आज्ञा।"

महाराज, "मेरी आज्ञा की बात छोड़िए। मैं तो राजा हूँ। महल वह मेरा होगा। पर उसे बनाने का काम तो आप लोगों द्वारा

औरों को करना है। इससे आप सब अपने से ही आज्ञा ले लें। मैं पूछता हूँ कि प्रजा में जितने लोग हैं, उससे दस गुना रुपया महल में लगे तो यह हिसाब अशुद्ध तो नहीं कहलायेगा, क्यों मन्त्री जी ? इसमें अपनी राय बतलाइये ?"

मन्त्री, "जो महाराज की आज्ञा।"

महाराज, "फिर मेरी आज्ञा ! मेरा काम महल में रहने का होगा। इससे पहले का काम आप लोगों का और मजूर लोगों का है। मन्त्री जी, पैसे के हिसाब-किताब का काम भला कहीं राजोचित होता है ?"

मन्त्री, "जो इच्छा।"

महाराज, "इतना ठीक हो गया न ? अब मुझे कुछ मत पूछिए। मेरी ओर से आप लोग इस महल के बारे में अपने को पूरा आज़ाद मानिए। पर हाँ, महल का नाम क्या रखिएगा ?"

मन्त्री, "नाम !"

महाराज, "सुनिए ! 'हवा-महल' नाम हो तो कैसा ? बोलिए, पसन्द है ?"

मन्त्री, "बहुत सुन्दर, बहुत सुन्दर !"

महाराज, "तो फिर और भी सुनिए। आसमान सात होते हैं। महल में मन्जिलें भी सात हों। इन्द्र-धनुष के रंग कितने होते हैं,—सात, कि कम ? खैर, मन्जिलें सात हों और इन्द्र-धनुष के सब रंग वहाँ हों। ठीक ?"

मन्त्री, "बहुत ठीक !"

महाराज, "सुनिए मन्त्री जी, हम राजा हैं न ? तुच्छ बातें हमारे लिए नहीं हैं। रुपए की बात सोचे वह राजा नहीं। वह मामूली लोगों का काम है। रुपए की मत सोचना। महल हवा-महल बनना है, तब

रुपये की क्या विसात ? राज का कोष आखिर किस लिए है ? महल से प्रजा खुश होगी। इससे महल में जितना भी धन लग सके उससे तनिक भी कम नहीं लगना चाहिए। मन्त्री जी, महल के साथ मेरे सामने रुपए की बात लाने से मेरे राजापन का अपमान होता है। जाओ, सात मन्जिल के हवा-महल की तैयारी होने दो।"

मन्त्री, "मैं अनुगृहीत हूँ। तो राज-कोषाध्यक्ष को आप आवश्यक आदेश—"

महाराज, "फिर आप छोटी बातें उठाते हैं, मन्त्री महाशय।"

मन्त्री, "क्षमा, महाराज। तो कल ही काम आरम्भ हो जायगा। प्रजा-जन इस ख़बर को सुनकर बहुत कृतज्ञ होंगे। इससे उन्हें करने को काम मिलेगा और महाराज के अभिनन्दन के लिए अवसर प्राप्त होगा।"

महाराज, "मन्त्री, इस हवा-महल के बारे में मुझ से और कुछ न पूछिए। आप उसके विषय में पूरे आज़ाद हैं। बनने पर उसका आनन्द और यश पाने को मैं हूँ। उससे पहले की सब बातें आप जानें।"

मन्त्री, "जो आज्ञा !"

मन्त्री चले गये और अगले दिन से महल की तैयारी होने लगी। प्लान बने, नक्शे बने, और लोग चल-फिर करने लगे। इंजीनियर तत्पर हुए, ठेकेदार आगे आये और मजूर जुटाए जाने लगे। राजधानी के नगर में समारोह-सा ही दिखने लगा। मानो, जहाँ आर्द्रता भी सूख रही थी वहाँ ताज़ा लहू बह चला।

पर राजा ने कुछ नहीं सुना। उन्हें जैसे रखने को कुछ पता ही नहीं चाहिए। जब उन्हें काम के बारे में सूचनाएँ दी गईं तब

कहा, "मैं हवा-महल चाहता हूँ। शेष सब-कुछ, मन्त्रिगण, आप लोग जानें। हवा-महल दे दें।"

मन्त्री, "देखिये तो, महाराज, महल का यह चित्र कितना सुन्दर है!"

महाराज, "बहुत सुन्दर है।"

मन्त्री, "महाराज उदासीन प्रतीत होते हैं। चित्र देखिए और कहिए, है कि नहीं सुन्दर?"

महाराज, "अवश्य सुन्दर है। हमारी आशा जो सुन्दर है।"

मन्त्री, "महाराज, महल बनने की सूचना से प्रजा में नया चैतन्य आ गया है। शत-शत मुख से आपका यशोगान सुन पड़ता है।"

महाराज, "मन्त्रिगण, यह शुभ समाचार है। आप से मुझे ऐसी ही सांत्वना है।"

मन्त्री, "महाराज का आशीर्वाद हमारा बल है।"

महाराज, "प्रजा की प्रसन्नता में हमारा बल है, मन्त्रिवर!"

यह हुआ, किन्तु महाराज की उदासीनता दूर न हुई। मन उनका अनमना रहता था। ऐसे देखते, जाने कहीं और हों। कभी सामने, दूर, ठहरी हुई आसमान की सूनी नीलिमा को देखकर अवसन्न हो रहते। उनके मन पर जैसे यह शून्यता छाए आती हो, छाए आती हो।

उधर काम जोरों से होने लगा। नगर में मानो चैतन्य का एक पूर-सा आ गया। आदमी ही आदमी, आदमी ही आदमी! हजारहा आदमी दूर-दूर से खिंच कर वहाँ मजूर बनने लगे और ऐसा कोलाहल मचने लगा, मानो लोग प्रसन्नता से ही मत्त हुए जा रहे हैं। और जाने कहाँ-कहाँ का सामान वहाँ इकट्ठा हुआ,—

लकड़ी, लोहा, मिट्टी, पत्थर। और उसको लाने के लिए और कलें आईं। और उनको यहाँ से वहाँ धरने के लिए और कलें आईं। और वर्दी-वाले अफ़सर आये और चपरास-वाले चपरासी आगए। और दफ्तर खुले और डीपो खुले, और अस्पताल और पानीघर और टट्टीघर आदि भी खुले। और एक ऐसा घर भी खुला जहाँ से भूखों को मुफ्त रोटी का दान दिया जाता था। रोग फैले तो उन्हें दमन करने के लिए डाक्टर बने। झगड़े उठे तो उनके मिटाने के लिए जज और वकील जनमे। और दुष्ट का दमन और साधु का परित्राण करने के लिए नीतिज्ञ जनों ने क़ानून पर क़ानून खड़े किये। जिस पर बद्धपरिकर पुलिस आई और मदिरालय आये और द्यूत-गृह आये और...मतलब, काम ज़ोरों से और व्यवस्था से और शान्ति से होने लगा।

एक दिन महाराज सीधे-सादे कपड़े पहने उधर जा निकले। उन्होंने देखा—नये महल की जगह के और उनके बीच में अब जाने कितना न अन्तर प्रतीत होता है! और जाने कितने न आदमी उस अन्तर को भरने के लिए मध्य में खप रहे हैं! वह चलते गये। वह देखना चाहते थे कि महल का क्या बन रहा है।

ठीक स्थान पर पहुँचकर उन्होंने देखा कि धरती में दूर-दूर तक गहरी और लम्बी खाइयाँ खुदी हैं। गहरी इतनी कि उनमें सीधे और पूरे कई आदमी समा जायँ। वे आपस में कटी-फटी ऐसी धरती में बिछी हैं कि मानो कोई षड्यन्त्र फैला हो, जैसे वह कोई भयंकर चक्र हो। धरती को भीतर तक पोला कर डाला गया है, कि जगह-जगह मोरियाँ-सी बन गई हैं। यह सब देखकर राजा का मन विश्वस्त नहीं हुआ—जिसका सिर खुली हवा में हो और जिससे आसमान पास हो जाय, वह महल क्या ऐसा होता है?

यह आकाश की ओर उठाने वाला महल है, या नरक की ओर ले जाने वाला कोई जाल है!

राजा ने वहाँ एक आदमी से पूछा, "भाई, यह सब क्या हो रहा है?"

सुनने-वाले ने बताया कि नये महाराज का नया महल बन रहा है। "तुम कहाँ रहते हो? इतनी बात भी नहीं जानते हो?"

महाराज ने कहा, "भाई, मैं भूल में रहता हूँ। मैं बहुत कम बात जानता हूँ। एक बात तो बताओ, भाई, कि ये इतने लोग एकदम कहाँ से यहाँ आ गये हैं! पहले तो यह जगह सुनसान थी। यहाँ आने के लिए वे खाली हाथ बैठे थे क्या? इससे पहले वे क्यों कुछ नहीं करते थे?"

उस आदमी ने कहा, "तुम कैसे अनजान आदमी हो जी! आजकल करने को कौन धन्धा रह गया है? जहाँ देखो वहीं कल। धरती नाज देती है, पर रोटी अपने हाथ से थोड़े ही वह दे देगी! वह नाज धरती पर से साहूकार की कोठी में चला जाता है। सो किसान भूखा रहता है कि कब वह मजूर बनकर पेट पाले। इससे, मजूरी में रोटी दो तो हज़ार क्या लाख आदमी ले लो। तुम जाने कहाँ रहते हो जो इतना तक नहीं जानते। नये महाराज हमारे बड़े उपकारी हैं, जिससे इतने लोगों को काम मिल गया है।

महाराज, "यह तो ठीक बात है। पर इस उपकार से पहले इन लोगों का क्या हाल था?"

आदमी, "वह हाल तुम नहीं जानते?"

महाराज, "बुरा हाल था?"

आदमी, "बस पूछो मत।"

महाराज, "उसमें राजा का उपकार नहीं था?"

सुनने वाले आदमी ने रिस भाव से कहा, "तुम कैसे आदमी हो जी, जो महाराज के विरोध की बात करते हो। तुम्हें कानून का और धर्म का डर नहीं है? जाओ, तुम कोई खाली आदमी मालूम होते हो। हमको अपना काम है।"

महाराज आगे बढ़ गये। धरती के भीतर खुदी हुई व्यूह-सी बनी उन मोरियों को यहाँ-वहाँ से देखते हुए वह कुछ काल घूमते रहे। थक-थकाकर फिर वह वापिस लौट आये।

अगले दिन उन्होंने मन्त्रियों को बुलाकर पूछा, "कहिए मन्त्रि-गण, महल का काम कैसा हो रहा है?"

मन्त्री, "काम तेज़ी से हो रहा है। महाराज, दस हज़ार मजूर लगे हैं। बस छः महीने में महल आप देखेंगे।"

महाराज, "काम कितना हो गया है?"

मन्त्री, "बुनियादें पूरी हो गई हैं। बस अब चिनाई शुरू होगी।"

महाराज, "चलो, देखें क्या हो रहा है।"

मन्त्रियों के साथ महाराज मौके पर आये। देखकर बोले, "यह सब क्या है?"

मन्त्री, "हुजूर, अब यह नींव तैयार हो गई है। जमीन बहुत उमदा निकली। महल का पाया यहाँ बहुत मज़बूत जमेगा। हज़ारों बरस बाद तक इससे आपका यश कायम रहेगा—"

महाराज ने बीच में ही उन्हें रोक कर कहा, "यह कुछ हमारी समझ में नहीं आ रहा है। क्या आप याद दिलायेंगे कि हमने क्या कहा था।"

मन्त्री, "महाराज ने हवा-महल तैयार करने की इच्छा प्रकट की थी।"

महाराज, "हवा-महल, ठीक। क्या और कुछ भी कहा था।"

मन्त्री, "महाराज की आज्ञा के अनुसार ही हो रहा है। कुछ काल बाद महाराज देख कर प्रसन्न होंगे। अभी काम का आरम्भ है।"

महाराज, "याद आता है कि हमने सात मन्ज़िलों का महल कहा था। हम आसमान की तरफ़ हवा में उठना चाहते थे। आप लोगों ने यह क्या किया है ?"

इस पर महाराज के सामने इंजीनियर आये, नक्शे-नवीस आये, ठेकेदार आये। सबने समझा कर बताया कि महल ठीक हुजूर की मनशा-जैसा होगा। पर महाराज की समझ में उसमें से थोड़ा भी न आ सका। उन्होंने अधीर भाव से पूछा, "आप सब लोग बतायें कि मैं महल में रहता हूँ, या आप लोग रहते हैं ?"

यह सुनकर मन्त्री लोग चुप रह गये, कुछ जवाब नहीं दिया।

महाराज ने कहा, "अगर मैं कहूँ कि आप से अधिक मैं महल को जानता हूँ, तो क्या आप इसका विरोध कीजिएगा ?"

मन्त्री लोग इस बात का भी कुछ जवाब नहीं दे सके।

तब महाराज ने कहा, "महल ज़मीन से ऊँचा होता है कि नीचा ? चुप क्यों हैं, बताइए ?"

इस पर मन्त्रियों ने समझाना चाहा कि—महाराज—

लेकिन बीच में ही उन्हें रोक कर महाराज कहने लगे, "नहीं, वह मुझे मत समझाइए। आप मुझे यह नहीं समझा सकते कि स्वर्गीय कुछ भी ऐसे बन सकता है। हमारा ख़याल है कि स्वर्ग की कल्पना ऊँची उठेगी और जो पाताल में है, वह नरक है। आप लोगों की बातें समझदारी की हैं और मैं जानता-बूझता कम हूँ। लेकिन महल जानता हूँ। धरती को इतना गहरा खोद कर आप लोग जो मेरे लिए बनाओगे वह सचमुच महल होगा, ऐसा विश्वास

मुझे नहीं है। हो सकता है कि इस तरह अनजान में आप लोग मेरी कब्र बना रहे हों। आप, सच, मुझे इसमें गाड़ना तो नहीं चाहते? कहीं यह मेरे नरक की राह ही तो नहीं खोदी जा रही है? यह महल है कि धोखा? मैंने महल कहा था और इधर हज़ारों लोगों को लगाकर ये खाइयाँ खोद दी गई हैं! मैं पाताल में जाना नहीं चाहता, सूरज की धूप की ओर उठना चाहता था।"

कह-सुनकर महाराज घर आये। उनके मन को मानो एक विषाद डसे डालता था। अगले दिन उन्होंने फिर मन्त्रियों को बुलाया। कहा, "मन्त्रिगण, बतलाइए कि क्यों मैं यह नहीं समझूँ कि आप सब मेरे खिलाफ षड्यन्त्र कर रहे हैं?"

इन नये महाराज को एक मन्त्री ने नीति से समझाया।

दूसरे मन्त्री ने हिम्मत और भय दिखला कर समझाया।

तीसरे मन्त्री ने स्तुति द्वारा राह पर लाना चाहा।

चौथे मन्त्री ने महाराज की मुद्रा देखकर विनम्र भाव से क्षमा माँगी।

पर इन सब के उत्तर में महाराज अविचल गम्भीर ही दीखे। पता न चला कि उन्होंने क्या समझा और क्या नहीं समझा।

प्रधानमन्त्री अब तक मौन थे। अब बोले, "महाराज, यदि दोष है तो मेरा है। लेकिन आज्ञा हो तो निवेदन करूँ कि राज-काज इस नीति से न चलेगा। आप नये हैं, हमारे इसी व्यापार में बाल पके हैं। पर हमारे अनुभव का कोई लाभ आप उठाना नहीं चाहते तो हम सबको छुट्टी दीजिए और क्षमा कीजिए।"

महाराज ने कहा, "सच यह है कि मैं अपने को ही छुट्टी देना चाहता था। लेकिन, आप अनुभवी लोग भी जब छुट्टी चाहते हैं तो मैं मान लेता हूँ कि मेरी मुक्ति में देर है। आप लोगों को छुट्टी

पाने का पहला अधिकार है और मैं उस अधिकार के सामने झुकता हूँ।"

मन्त्री-लोग राजा की समझ से निराश हो रहे थे। आशा न थी कि स्थिति एकदम यों हाथ से बाहर हो जायगी। उनमें से कई अब सहज भाव से महाराज की प्रशंसा करने लगे।

महाराज ने कहा, "मैं आप सबका कृतज्ञ हूँ। आशंका आप न करें। आपकी छुट्टी मैं नहीं रोक सकूँगा। अभी से आप अपने को अवकाश-प्राप्त समझ सकते हैं। दूसरा प्रबन्ध न हो तब तक चाभियाँ मुझे सौंप जावें। प्रार्थना यह है कि आप मुझ पर सदा करुणा-भाव रखें।"

इसके बाद एक-एक कर महाराज ने उन सबका अभिवादन लिया और बिदा किया।

चिड़िया की बच्ची

माधवदास ने अपनी संगमरमर की नई कोठी बनवाई है। उसके सामने बहुत सुहावना बगीचा भी लगवाया है। उनको कला से बहुत प्रेम है। उनके पास धन की कमी नहीं है और कोई व्यसन छू नहीं गया है। सुन्दर अभिरुचि के आदमी हैं। फूल-पौधे रकाबियों से हौज़ों में लगे। फव्वारों में उछलता हुआ पानी उन्हें बहुत अच्छा लगता है। समय भी उनके पास काफी है। शाम को जब दिन की गरमी ढल जाती है और आसमान कई रंग का हो जाता है तब कोठी के बाहर चबूतरे पर तख्त डलवा कर मसनद के सहारे वह गलीचे पर बैठते हैं और प्रकृति की छटा निहारते हैं। इसमें मानो उनके मन को तृप्ति मिलती है। मित्र हुए तो उन से विनोद-चर्चा करते हैं, नहीं तो पास रखे हुए फ़र्शी हुक्के की सटक को मुँह में दिए ख्याल ही ख्याल में सन्ध्या को स्वप्न की भाँति गुज़ार देते हैं।

आज कुछ-कुछ बादल थे। घटा गहरी नहीं थी। धूप का प्रकाश उनमें से छन-छन कर आ रहा था। माधवदास मसनद के सहारे बैठे थे। उन्हें जिन्दगी में क्या स्वाद नहीं मिला है ? पर

जी भर कर भी कुछ खाली-सा रहता है। इससे कभी मदिरा भी चख देखी है और यदा-कदा अध्यात्म का घूँट ले लिया है। ऐसे ही यह-वह करते खुमारी में दिन बीते हैं।

उस दिन सन्ध्या समय उनके देखते-देखते सामने की गुलाब की डाली पर एक चिड़िया आन बैठी। चिड़िया बहुत सुन्दर थी। उसकी गरदन लाल थी और गुलाबी होते-होते किनारों पर ज़रा-ज़रा नीली पड़ गई थी। पंख ऊपर से चमकदार स्याह थे। उसका नन्हा-सा सिर तो बहुत प्यारा लगता था। और शरीर पर चित्र-विचित्र चित्रकारी थी। चिड़िया को मानो माधवदास की सत्ता का कुछ पता नहीं था और मानों तनिक देर का आराम भी उसे नहीं चाहिए था। अभी पर हिलाती थी, अभी फुदकती थी। वह खूब खुश मालूम होती थी। अपनी नन्हीं-सी चोंच से प्यारी-प्यारी आवाज़ निकाल रही थी।

माधवदास को वह चिड़िया बड़ी मनभावनी लगी। उसकी स्वच्छन्दता बड़ी प्यारी जान पड़ती थी। कुछ देर तक वह उस चिड़िया का इस डाल से उस डाल थिरकना देखते रहे। इस समय वह अपना बहुत-कुछ भूल गये। उन्होंने उस चिड़िया से कहा, "आओ, तुम बड़ी अच्छी आई। यह बगीचा तुम लोगों के बिना सूना लगता है। सुनो चिड़िया, तुम खुशी से यह समझो कि यह बगीचा मैंने तुम्हारे लिए ही बनवाया है। तुम बेखटके यहाँ आया करो।"

चिड़िया पहले तो असावधान रही। फिर यह जान कर कि बात उससे की जा रही है, वह एकाएक तो घबराई। फिर संकोच को जीतकर बोली, "मुझको मालूम नहीं था कि यह बगीचा आपका

है। मैं अभी चली जाती हूँ। पल-भर साँस लेने मैं यहाँ टिक गई थी।"

माधवदास ने कहा, "हाँ, बगीचा तो मेरा है। यह संगमरमर की कोठी भी मेरी है। लेकिन इस सबको तुम अपना भी समझ सकती हो। सब कुछ तुम्हारा है। तुम कैसी भोली हो, कैसी प्यारी हो। जाओ नहीं, बैठो। मेरा मन तुमसे बहुत खुश होता है।"

चिड़िया बहुत कुछ सकुचा गई। उसे बोध हुआ कि यह उससे गलती तो नहीं हुई कि वह यहाँ बैठ गई है। उसका थिरकना रुक गया। भयभीत-सी वह बोली, "मैं थक कर यहाँ बैठ गई थी। मैं अभी चली जाऊँगी। बगीचा आपका है। मुझे माफ़ करें!"

माधवदास ने कहा, "मेरी भोली चिड़िया, तुम्हें देखकर मेरा चित्त प्रफुल्लित हुआ है। मेरा महल भी सूना है। वहाँ कोई भी चहचहाता नहीं है। तुम्हें देखकर मेरी रानियों का जी बहलेगा। तुम कैसी प्यारी हो, यहाँ ही तुम क्यों न रहो?"

चिड़िया बोली, "मैं माँ के पास जा रही हूँ। सूरज की धूप खाने और हवा से खेलने और फूलों से बात करने मैं ज़रा घरसे उड़ आई थी। अब साँझ हो गई है और माँ के पास जा रही हूँ। अभी-अभी मैं चली जा रही हूँ। आप सोच न करें।"

माधवदास ने कहा, "प्यारी चिड़िया, पगली मत बनो। देखो, तुम्हारे चारों तरफ़ कैसी बहार है। देखो, वह पानी खेल रहा है, उधर गुलब हँस रहा है। भीतर महल में चलो, जाने क्या क्या न पाओगी। मेरा दिल वीरान है। वहाँ कब हँसी सुनने को मिलती है? मेरे पास बहुत-सा सोना-मोती है। सोने का एक बहुत सुन्दर घर मैं तुम्हें बना दूँगा। मोतियों की झालर उस में लटकेगी।

तुम मुझे खुश रखना। और तुम्हें क्या चाहिए? माँ के पास बताओ क्या है? तुम यहाँ ही सुख से रहो, मेरी भोली गुड़िया।"

चिड़िया इन बातों से बहुत डर गई। वह बोली, "मैं भटक कर' निक आराम के लिए इस डाली पर रुक गई थी। अब भूल कर भी ऐसी ग़लती नहीं होगी। मैं अभी यहाँ से उड़ी जा रही हूँ। तुम्हारी बातें मेरी समझ में नहीं आती हैं। मेरी माँ के घोंसले के बाहर बहुतेरी सुनहरी धूप बिखरी रहती है। मुझे और क्या करना है? दो दाने माँ ला देती है और जब मैं पर खोलने बाहर जाती हूँ तो माँ मेरी बाट देखती रहती है। मुझे तुम और कुछ मत समझो, मैं अपनी माँ की हूँ।"

माधवदास ने कहा, "भोली चिड़िया, तुम कहाँ रहती हो? तुम मुझे नहीं जानती हो?"

चिड़िया, "मैं माँ को जानती हूँ, भाई को जानती हूँ, सूरज को और उसकी धूप को जानती हूँ। घास, पानी और फूलों को जानती हूँ। महामान्य, तुम कौन हो? मैं तुमको नहीं जानती।"

माधवदास, "तुम भोली हो चिड़िया। मुझको नहीं जाना, तब तुमने कुछ नहीं जाना। मैं ही तो हूँ सेठ माधवदास। मेरे पास क्या नहीं है। जो माँगो, मैं वही दे सकता हूँ।"

चिड़िया, "पर मेरी तो छोटी-सी जान है। आपके पास सब कुछ है। तब मुझे जाने दीजिए।"

माधवदास, "चिड़िया, तू निरी अनजान है। मुझे खुश करेगी तो मैं तुझे मालामाल कर सकता हूँ।"

चिड़िया, "तुम सेठ हो। मैं नहीं जानती, सेठ क्या होता है। पर सेठ कोई बड़ी बात होती होगी। मैं अनसमझ ठहरी। माँ मुझे बहुत प्यार करती है। वह मेरी राह देखती होगी। मैं मालामाल

होकर क्या होऊँगी, मैं नहीं जानती। मालामाल किसे कहते हैं? क्या मुझे वह तुम्हारा मालामाल होना चाहिए?"

सेठ, "अरी चिड़िया, तुझे बुद्धि नहीं है। तू सोना नहीं जानती, सोना? उसी की जगत् को तृष्णा है। वह सोना मेरे पास ढेर का ढेर है। तेरा घर समूचा सोने का होगा। ऐसा पिंजरा बनवाऊँगा कि कहीं दुनिया में न होगा। ऐसा, कि तू देखती रह जाय। तू उसके भीतर थिरक-फुदक कर मुझे खुश करियो। तेरा भाग्य खुल जायगा। तेरे पानी पीने की कटोरी भी सोने की होगी।"

चिड़िया, "वह सोना क्या चीज़ होती है?"

सेठ, "तू क्या जानेगी। तू चिड़िया जो है। सोने का मूल्य जानने के लिए अभी तुझे बहुत सीखना है। बस, यह जान ले कि मैं सेठ माधवदास तुझसे बात कर रहा हूँ। जिससे मैं बात तक कर लेता हूँ उसकी किस्मत खुल जाती है। तू अभी जग का हाल नहीं जानती। मेरी कोठियों पर कोठियाँ हैं, बगीचों पर बगीचे हैं। दास-दासियों की संख्या नहीं है। पर तुझ से मेरा चित्त प्रसन्न हुआ है। ऐसा वरदान कब किसी को मिलता है। री चिड़िया, तू इस बात को समझती क्यों नहीं?"

चिड़िया, "सेठ, मैं नादान हूँ। मैं कुछ समझती नहीं। पर मुझको देर हो रही है। माँ मेरी बाट देखती होगी।"

सेठ, "ठहर ठहर, इस अपने पास के फूल को तूने देखा? यह एक है। ऐसे अनगिनती फूल मेरे बगीचों में हैं। वे भाँति-भाँति के रङ्ग के हैं। तरह-तरह की उनकी खुशबू है। चिड़िया, तैंने मेरा चित्त प्रसन्न किया है और वे सब फूल तेरे लिए खिला करेंगे। वहाँ घोंसले में तेरी माँ है, पर माँ क्या है? इस बहार के सामने तेरी माँ क्या है? वहाँ तेरे घोंसले में कुछ भी तो नहीं है। तू अपने को

नहीं देखती ? कैसी सुन्दर तेरी गरदन, कैसी रङ्गीन देह ! तू अपने मूल्य को क्यों नहीं जानती ? मैं तुझे सोने से मढ़कर तेरे मूल्य का चमका दूँगा। तैंने मेरे चित्त को प्रसन्न किया है। तू मत जा, यहीं रह।"

चिड़िया, "सेठ, मैं अपने को नहीं जानती। इतना जानती हूँ कि माँ मेरी माँ है। और मुझे प्यार करती है। और मुझको यहाँ देर हो रही है। सेठ, मुझे रात मत करो, रात में अँधेरा बहुत हो जाता है और मै राह भूल जाऊँगी।"

सेठ ने कहा, "अच्छा, चिड़िया जाती हो तो जाओ। पर इस बगीचे को अपना ही समझो। तुम बड़ी सुन्दर हो।"

यह कहने के साथ ही सेठ ने एक बटन दबा दिया। उसके दबने से दूर कोठी के अन्दर आवाज़ हुई जिसे सुनकर एक दास झटपट भाग कर बाहर आया। यह सब छन-भर में हो गया और चिड़िया कुछ भी नहीं समझी।

सेठ कहते रहे, "तुम अभी माँ के पास अवश्य जाओ। माँ बाट देखती होगी। पर कल आओगी न ? कल आना, परसों आना, रोज़ आना। तुम बड़ी सुन्दर लगती हो।"

यह कहते-कहते दास को सेठ ने इशारा कर दिया और वह नौकर चिड़िया को पकड़ने के जतन में चला।

सेठ कहते रहे, "सच, तुम बड़ी सुन्दर लगती हो ! तुम्हारे भाई-बहिन हैं ? कितने भाई-बहिन हैं ?

चिड़िया, "दो बहिन, एक भाई है। पर मुझे देर हो रही है—"

"हाँ हाँ जाना। अभी तो उजेला है। दो बहन, एक भाई है। बड़ी अच्छी बात है—"

पर चिड़िया के मन के भीतर जाने क्यों चैन नहीं था। वह

चौकन्नी हो-हो चारों ओर देखती थी। उसने कहा, "सेठ, मुझे देर हो रही है।"

सेठ ने कहा, "देर अभी कहाँ? अभी उजेला है, मेरी प्यारी चिड़िया! तुम अपने घर का इतने और हाल सुनाओ। भय मत करो।"

चिड़िया ने कहा, "सेठ मुझे डर लगता है। मैं नादान बच्ची हूँ। माँ मेरी दूर है। रात हो जायगी तो मुझे राह नहीं सूझेगी।"

"भय न करो, चिड़िया। तुम बहुत सुन्दर हो। मैं तुमको प्रेम करता हूँ।"

इतने में चिड़िया को बोध हुआ कि जैसे एक कठोर स्पर्श उसके देह को छू गया। वह चीख देकर चिचियायी और एकदम उड़ी। नौकर के फैले हुए पन्जे में वह आकर भी नहीं आ सकी। तब वह उड़ती हुई एक साँस माँ के पास गई और माँ की गोदी में गिरकर सुबकने लगी, "ओ माँ, ओ माँ!"

माँ ने बच्ची को छाती से चिपटा कर पूछा, "क्या है मेरी बच्ची, क्या है?"

पर बच्ची काँप-काँप कर माँ की छाती में और चिपक गई। बोली कुछ नहीं, बस सुबकती रही, "ओ माँ, ओ माँ!"

बड़ी देर में उसे ढारस बँधा और तब वह पलक मींच उस छाती में ही चिपक सोई। जैसे अब पलक न खोलेगी।

वह साँप

एक साँप था। वह बहुत जहरीला था, पर उसको इस बात का दुःख था कि वह जहरीला क्यों है।

एक बार एक देव-बालक क्रीड़ा करता हुआ वन में से जा रहा था। देव-बालक को किसी अनर्थ की आशंका न थी। वह किलकारी मारता हुआ उछलता चला जा रहा था। बालक बहुत सुन्दर था। उसका पैर साँप की पूँछ पर पड़ गया।

उसकी पूँछ जो दबी, तो साँप को गुस्सा आ गया। उसने बालक को काट लिया। बालक हँसता-हँसता वहीं धरती पर लोट गया।

साँप ने जाकर उसे सूँघा। बालक की जान निकल गई थी। साँप ने देखा कि बालक बहुत ही सुन्दर था। उसका मुख अब भी जैसे हँस रहा हो। उस समय साँप को बहुत दुःख हुआ। उस दुःख में दो रोज तक उसको कुछ भी नहीं सूझा। वह बालक को चारों ओर कुण्डलाकार घेर कर बैठा रहा, न हिला न डुला, मानो वह यम के खिलाफ बालक की देह का पहरा देता हो। जब शनैः-शनैः

बालक के मुँह पर से स्मित-हास की आभा मिटने लगी और शरीर गलने लगा, तब हठात् साँप भी वहाँ से हटा।

उस समय उसने प्रार्थना की कि हे भगवान्! मेरा ज़हर मुझ में से तू निकाल ले। मैं किसी का अनिष्ट करना नहीं चाहता हूँ। मुझे गुस्सा ज़रा भी आ जाता है, तब मैं अपने को भूल जाता हूँ। मैं क्या करूँ, किसी की जान लेने की मेरी इच्छा कभी नहीं होती, लेकिन मेरा ज़रा दाँत लगता है कि उसकी जान चली जाती है। हे भगवान्, तू मेरे ज़हर के दाँत निकाल ले।

साँप की प्रार्थना सुनकर भगवान् ने उस वन में एक सँपेरा भेज दिया। उसने जब बीन बजाई, तब साँप सम्मुख आकर फन खोलकर खड़ा हो गया। वह फन हिला-हिलाकर उस बीन की मीठी पुकार पर अपने को दे डालने की इच्छा करता हुआ, मानों पकड़े जाने की प्रतीक्षा में मुग्ध हो रहा।

सँपेरा बहुत खुश था। उसने ऐसा सुन्दर, ऐसा बड़ा, ऐसा बलिष्ठ और ऐसा तेजस्वी साँप कभी नहीं देखा था।

बीन की बैन में उसे लुभा कर धीरे-धीरे सँपेरे ने साँप को पकड़ कर अपने वश में कर लिया। तब उसने साँप के जहर के दाँत खींच निकाले।

साँप ने अनुमतिपूर्वक दाँत निकलवा दिए। लेकिन, उसकी वेदना में एक बार वह मूर्च्छित हो गया।

उसी मूर्च्छित अवस्था में साँप को अपनी पिटारी में रखकर सँपेरा नगर को चल पड़ा।

साँप की मूर्च्छा जब टूटी तब उसने देखा कि उसका वन कहीं नहीं है। वहाँ तो अन्धेरा ही चारों ओर से घिरकर बन्द होता आया

है। उसने सरक-सरक कर देखा कि चारों ओर उसके रुकावट है और खेलने के लिए कहीं भी निकलने को मार्ग नहीं है।

पहले तो उसने इधर-उधर फन मारे, जैसे विष निकलने के साथ-साथ उसमें से तेज भी निकल गया था। उसने कहा, "हे भगवान्! यह क्या है? तुम्हारा दिया हुआ विष मैंने स्वीकार न करके तुमसे प्रार्थना की कि तुम उसे मुझमें से लौटा लो, सो क्या उसी का यह दंड मुझे मिला है कि विष के साथ मेरी सामर्थ्य भी मुझमें से खिंच जाय? हे भगवान्! यह क्या है?"

अगले दिन बहँगी पर टाँग कर सँपेरा नगर में साँप का तमाशा दिखाने को चला। साँप के घर पर से जो ढकना खुला तो उसने प्रसन्नता से सिर ऊपर उठाया; किन्तु बाहर बीन बज रही थी; इसलिए उसका उठा हुआ फन हिल ही कर रह गया और प्रसन्नता अपने शैशव में ही मुग्ध हो पड़ी।

जब उसको बाहर निकाला गया, तो वह यह देखकर चकित हो गया कि चारों ओर से उसे घेर कर बहुत से तमाशाई लोग खड़े हैं। विस्मय के बाद इस पर उसका मन क्रोध से भर आया। उसने जोर से फुफकार मारी, फन फैलाया और क्रुद्ध आँखों से चारों ओर देखा।

उसकी इस चेष्टा पर चारों ओर खड़े लोगों में से कुछ बच्चे तो चाहे डरे हों, पर सबको इसमें कुतूहल ही मालूम हुआ। यह देखकर साँप ने धरती पर पटककर अपने फन को और भी चौड़ा कर ऊँचा उठाया, और, और जोर की सिसकारी छोड़ी।

किन्तु दर्शकों का कुतूहल इससे कुछ और बढ़ कर ही रह गया, आतंक उनमें तनिक न उपजा।

साँप ने देखा कि उसकी तेजस्विता का तनिक भी सम्मान

लोगों में नहीं है ! इस पर क्षोभ उसके भीतर बल खा-खाकर उभरने और फुरने लगा। वह क्षोभ उसे ही खाने लगा। अशक्त, निरुपाय, भीतर-ही-भीतर जल कर विक्षुब्ध, तब वह वहीं अपनी पूँछ में मुँह छिपाकर, आँख मूँद धरती पर लोट गया। वह न जग को देखना चाहता था, न दीखना चाहता था। व्यर्थता की अनुभूति से उसके प्राण मानों अपने आप में ही सिक-सिककर, भुन-भुनकर सूखते जाने लगे।

तभी उसकी पूँछ पर जोर की चोट दी गई। उसने तिलमिला कर सिसकारी के साथ अपना फन उठाया। वह फन सदा की भाँति प्रशस्त और भयानक था, किन्तु उसने देखा कि भगवान् का भेजा हुआ वह सँपेरा बीन को अभी अपने मुँह में लगाकर उसे बजा उठा है। और देखा कि वही है, जो चाहता है, कि वह (साँप) चारों ओर एकत्र हुए लोगों को अपने निष्फल, निर्वीर्य आवेश का प्रदर्शन करके दिखाए—हाय !

यह समझकर साँप ने अपना मुँह फिर पूँछ में दुबका लेना चाहा, ताकि वह धरती से चिपटा पड़े रहे; किन्तु सँपेरे ने उसके शरीर पर चोट-पर-चोट दी। पराजित, परास्त मुँह दुबकाए लेटे रहने की भी तो लाचारी उसके पाले न रहने दी गई। नहीं, उसे फन उठाना होगा, वही फन जो कभी भयंकर हो; पर अब खिलौना है, जिससे लोग उसके निस्तेज सौन्दर्य और व्यर्थ क्रोध को देखकर बहलें और सँपेरे को पैसे दें।

साँप ने अन्त में एकत्रित समूह का मनोरंजन किया ही। इसके सिवाय उसे कहीं भी चारा नहीं मिला। लोगों को सन्तुष्ट करके, हारा, थका, जी में संतप्त और त्रस्त जब वह अपने घर में बन्द

हुआ, तब उसके ऊपर सँपेरे के मुँह से लगी बीन बज रही थी। और उसके भीतर से उठ रहा था कि हे भगवान् !

इसी भाँति वह सुन्दर वन्य सर्प अपना ज़हर खोकर, क्रोध में जलकर, निष्फलता की अनुभूति में घुलकर शिथिल, निष्प्राण, निष्परिणाम मृतप्राय होता चला गया। तब तक, जब तक मौत उसे छुटकारा दे।

"तो क्या विष ही मेरा बल था ?" साँप सदा सोचा किया, और कहा किया—"हे भगवान् !"

ऊर्ध्वबाहु

इन्द्र अपने नन्दन-कानन में अप्सराओं समेत आनन्द-मग्न थे कि सहसा उनका आसन दोलायमान हुआ । इस पर उन्होंने चारों ओर विस्मय से देखा । अनन्तर सशंक भाव से कहा, "प्रहरी, देखो यह किस मर्त्य का उत्पात है ?"

प्रहरी स्वर्ग से सिधार कर धरती पर आया और लौटकर सूचना दी, "महाराज, तपस्वी ऊर्ध्वबाहु प्रचण्ड तप कर रहे हैं । दिशाएँ उस पर स्तब्ध हो उठी हैं । उसी के प्रताप से स्वर्ग की केलि-क्रीड़ा में विघ्न उपस्थित हुआ है ।"

इन्द्र ने कहा, "ऊर्ध्वबाहु ! ऋषि भद्रबाहु का वह उद्दण्ड शिष्य ? उसकी यह स्पर्द्धा !"

प्रहरी ने कहा, "हाँ महाराज, वह अमोघ तपस्वी ऋषि भद्रबाहु के ही आश्रम के स्नातक हैं ।"

इन्द्र ने तब अपने विश्वस्त अनुचर सौधर्म को निरीक्षण के लिए भेजा । सौधर्म ने आकर जो बताया, उससे इन्द्र भयभीत हो आये । वह अस्थिर और म्लान दिखाई देने लगे । सौधर्म ने ऊर्ध्व-बाहु की अखण्ड तपश्चर्या का रोमहर्ष वर्णन किया । पूरा संवत्सर

उन तपोव्रत ने निराहार यापन किया है। बराबर पंचाग्नि भी तपते रहे हैं। अखण्ड मन्त्रोच्चार के सिवा कोई शब्द मुँह से नहीं निकलने दिया है। अमा रात्रि की निबिड़ता में ही आँखों को खोला, नहीं तो सदा बन्द रखा है। हिम, आतप, वर्षा और वायु को नग्न शरीर पर सहन किया है। मासों बाहु और मुख ऊपर किये एक पैर पर खड़े रहे हैं। वह बाल ब्रह्मचारी हैं। सोलह वर्ष की अवस्था से उन्हें स्त्री के दर्शनमात्र का त्याग है। आस-पास की भूमि उनके तप के तेज से तृणांकुर-हीन हो गई है, और वृक्षों के पत्ते झुलस उठे हैं।

यह सब सुनकर इन्द्र चिन्ताग्रस्त हुए और उन्होंने कामदेव को बुलाया। कहा, "हे कन्दर्प देव, ऐसे संकट में तुम्हीं ने सदा मेरी सहायता की है। धरती पर फिर एक महास्पर्द्धी मानव तपस्या के बल से हमें स्वर्गच्युत करने का हठ ठान उठा है। वह भूल गया है कि वह शरीर से बद्ध है और मर्त्य है। तुम अनंगरूप हो, कामदेव, और अंगधारी के गर्व-खर्व करने को अतुल बल-संयुत हो। जाकर उस उद्दण्ड ऊर्ध्वबाहु को वश में लो और उसकी तपश्चर्या का दर्प चूर्ण कर दो। इस कार्य में अब विलम्ब न करो, अन्यथा हमारे इस स्वर्ग पर संकट ही आया चाहता है। मानव यदि अपनी अन्तर्वासनाओं को इस प्रकार एकाग्र और केन्द्रित करने में सफल हो जायगा, तो हम देवताओं का अस्तित्व ही व्यर्थ हो जायगा। हे मन्मथ, मनुष्य के मन में नाना प्रकार के मनोरथों को अंकुरित करते रहकर ही हम स्वर्गवासी अपना अस्तित्व निरापद रख पाते हैं। उन मनोरथों से स्वाधीन होकर हीन मनुष्य हमें अपने अधीन कर लेगा। इससे हे विश्वजयी, जाओ और उस तपस्वी के मन में मोह उत्पन्न करके स्वर्ग की रक्षा करो।"

आज्ञा पाकर कामदेव अपने आयुध और सैन्य-समेत धराधाम पर ऊर्ध्वबाहु के निकटस्थ अवतीर्ण हुए। तब सहसा ही आस-पास की पृथिवी विलसित हो उठी। छहों ऋतुओं का युगपत् समागम हुआ। मन्द-मन्द बयार बह आई। पुष्प-मंजरियों से धीमी-धीमी सुगन्ध फैलने लगी। आकाश भी मानो सुख-स्पर्श कर उठा। सब कुछ जैसे तरंगित होकर झूम उठा हो। ऊर्ध्वबाहु ने सुखयोग की इस आपदा को अनुभव किया और आँखों को और भी कस कर बन्द कर लिया। शेष शरीर को भी मानो समेट कर जड़वत् करने की चेष्टा की।

उस समय दसों दिशाओं से मदिर मधुर संगीत की मूर्च्छना उसके कर्ण-रन्ध्रों में प्रवेश करने लगी। शरीर में मानों हठात् पुलक छा जाने लगा। रक्त सनसनाता-सा शिराओं में प्रधावित हुआ और निराहारी शुष्क अंग-प्रत्यंग में जैसे हठात् हरीतिमा भरने लगी।

ऊर्ध्वबाहु समझ गये कि यह इन्द्र का उपसर्ग है। उस समय मन-प्राण में से चेतना खींचकर मस्तिष्क के ऊर्ध्व में केन्द्रित कर रखने की उन्होंने प्रणपूर्ण-भाव से चेष्टा की। बाहरी किसी माया पर वह अपनी आँखें नहीं खोलेंगे, किसी रस का स्पर्श नहीं लेंगे। बहती वायु, भीनी गंध, मधुर स्वर और मादक वाताकाश सब इन्द्रियों का भ्रम है। इन व्यापारों से इन्द्रियों का संगोपन कर अतीन्द्रियता में ही ब्रह्ममग्न रहना होगा। विषयों में इन्द्रियाँ भागती हैं, आत्म-विषय अतः उनका निग्रह ही है। काया को स्खलित और शिथिल किसी भाँति नहीं होने देना होगा। अशेष भाव से ब्रह्मध्यान में ही रहकर काया की बाग को स्थिर सङ्कल्प से थामे रखना होगा।

और तत्क्षण चहुँ ओर मन्थर निक्षेप से रखे जाते हुए अनेक पगपायल के नूपुरों का किंकणन उसे सुनाई दिया। मानो अप्सराओं के समूह ठठ-के-ठठ यूथबद्ध होकर चतुर्दिशाओं में मृदु-मन्द नृत्य-क्रीड़ा कर उठे हों।

ऊर्ध्वबाहु अचल-प्रण तपस्वी की भाँति मन-ही-मन सुरपति की माया-लीला पर व्यंग-भाव से मुस्कराये। वह जानते थे कि वह सुरपति को पराजित करेंगे। माया-राज का वह अधीश्वर इन्द्र परम पुरुष परब्रह्म के द्वार पर लुब्धक प्रहरी के समान निषेध-मूर्त्ति बन कर जो बैठा हुआ है, उसको बलात् वहाँ से पदच्युत कर भगवद्दर्शन के द्वार को उन्मुक्त कर देना होगा।...

कि तभी नूपुरों की मन्द-मन्द ध्वनि उत्तरोत्तर द्रुत होने लगी। होते-होते मानो एक तीव्र उत्तेजना में उन्मत्त भाव से वह ध्वनि निकट आकर रक्ताक्त मदिरा-फेन के समान उफनती हुई थिरकने लगी। क्रमशः असंख्य नूपुरों का वह स्वर समवेत होकर लहकती ज्वाला की भाँति कर्ण-कुहरों से होकर तपस्वी के भीतर पिघलता हुआ उतरने लगा। ऊर्ध्वबाहु को इस पर क्रोध हो आया। मुझ में बिना मेरी अनुमति प्रवेश करने वाली तरलाग्निवत् यह राग वस्तु क्या है? मेरे निकट यह कौन उसे उत्थित करने का साहस कर रहा है? क्या उसे जीवन की कांक्षा नहीं है? कौन इस प्रकार मेरे शाप में भस्म होने को यहाँ आ पहुँचा है? यह धार कर क्रुद्ध भाव से तपस्वी ऊर्ध्वबाहु ने अपने नेत्र खोले।

देखा, चिबुक पर तर्जनी रखे एक रूपसी मानो नृत्य के बीच में सहसा अवसन्न होकर उनकी ओर कौतुक से देख रही है। उसी समय उनके भीतर गहरे में कोई फूलों की चोट दे गया। वृक्ष की ओट में पुष्पधनु का सन्धान किये पंचशर अवसर देखते ही थे।

क्षण-भर अप्सरा उनकी ओर मानो देखती रही फिर मुस्कराहट बिखेरती यौवन-भार लिये नाना भंगिमा में शरीर को वक्र करती, नूपुरों को क्वणित करती हुई उन्हीं के निकट आने लगी। आते-आते मानो श्वास-स्पर्श तक पहुँच कर वह एक साथ त्वरित गति से फिरकी लेकर नृत्य करती हुई वह पीछे लौट उठी। उस समय उसका परिधान वायु में लहरें ले रहा था और उसके अंग-प्रत्यंग क्षण-क्षण झलक कर ओझल हो रहे थे। वे पल के सूक्ष्म भाग तक आँखों में झाईं देकर तत्काल आपस में ऐसे खो जाते थे कि दक्षिण-वाम का अन्तर भी नहीं रह जाता था। जैसे भागते हुए भीने बादलों में से दीख-दीख कर भी चन्द्रमुख न दीखे, पर चन्द्र-प्रभा और भी मोहक हो जाय। ऊर्ध्वबाहु ने भृकुटी में वक्र डाल कर इस दृश्य पर निगाह खोली। मानो कुछ उनकी चेतना में झलमली देता हुआ घूम गया। दृष्टि उनकी खुली ही रह गयी। भृकुटी का वक्र भी जाता रहा। गात में सिहरन हो आई। उसी समय हठात् कुछ स्मरण करके उन्होंने आँखों को बन्द कर लिया और ध्यान को मूर्धा की ओर खींचना चाहा। पर पलक नृत्य करती हुई देवाङ्गना को मन में पहुँचा कर मानो उस पर कपाट की भाँति ही बन्द हुए और ध्यान उन्हें मुहुमुहुः वलयमान उस अस्पष्ट ज्योतिज्ज्वाला के चहुँ ओर परिक्रमा करता हुआ प्रतीत हुआ।

उस समय अपने द्वंद्व के त्रास से ऊर्ध्वबाहु संतप्त हो आये। मानो शिरा-शिरा स्वयं उनके ही प्रतिकूल सन्नद्ध हो पड़ी हो। उनका रक्त उनके ही आदेश के प्रति विद्रोही हो उठा हो। उनका अंकुश स्वयं उन्हीं पर उलटा लग रहा हो। वह कुछ न समझ सके कि अपने विवेक के प्रतिकूल अपने रक्त की विजय वे स्वयं ही चाहते हैं। वह पूछने लगे कि क्या वह चाहते हैं कि रक्त उनके मस्तक में

ऐसा चढ़ जाय कि फिर कुछ उन्हें रोकने के लिये ही न रहे? पर वह अपने में कुछ भी अलग न पकड़ सके, कुछ भी उत्तर न पा सके। मुहूर्त्त-भर तुमुल द्वंद्व उनके भीतर मचता रहा। मानो उन्हीं के पाताल देश से क्रुद्ध प्रभंजन उठ कर उन्हें झकझोरने लगा। उसके विस्फूर्जित आवेग में उनके संचित धारणा-संकल्प कहाँ टूट-फूट कर रह गये हैं, मानो उन्हें कुछ पता नहीं चला।

इस प्रलयान्तक मुहूर्त्त के बाद उन्होंने आँख खोली। नृत्य शांत था। किन्तु एक नहीं, असंख्य, अनन्त अप्सराएँ चतुर्दिक उनकी ओर देखती हुई मुस्करा रही थीं। मानो ऊर्ध्वबाहु की आज्ञा की ही प्रतीक्षा है! और—

तपस्वी की दृष्टि में स्पृहा जागृत हुई। उन्होंने आँखें मलीं और और खोलीं। कहीं सब स्वप्न तो नहीं है! पर देखा अपरूप शोभा-शालिनी अनंगलताएँ उनकी ही ओर आ रही हैं—निकट आ रही हैं, निकट से और निकट आ रही हैं। इस रूप-लावण्य के सागर के लिये उनके रोम-रोम से आमन्त्रण स्फुरित होने लगा। मुख की चेष्टा बदल गई और अनायास उनकी बाँहें आगे को फैल गईं।

किन्तु बाँहें फैली ही रह गईं, कुछ उनमें न आया था। सब अनन्त विस्तृत दिशाओं की शून्यता में मिलकर खो गया था।

ऊर्ध्वबाहु ने पाया, वहाँ बस वही है—व्यर्थ, खण्डित और एकाकी।

भद्रबाहु

इन्द्र को समाचार प्राप्त हुआ कि कामदेव की कन्दर्प-वाहिनी ने दुर्द्धर्ष ऊर्ध्वबाहु की तपश्चर्या को सफलतापूर्वक भंग कर दिया है। किन्तु वह इस पर पूर्ण आश्वस्त नहीं दिखाई दिये।

सौधर्म ने पूछा, "महाराज को अब क्या चिन्ता शेष है ?

इन्द्र ने कहा, "सौधर्म, ऊर्ध्वबाहु के सम्बन्ध में वह चिन्ता नहीं है। कठोर तपस्वियों से मुझे भय का कारण नहीं है। फिर भी मर्त्यलोक के मानव की ओर से मैं निश्शंक नहीं हो पाता हूँ। उनमें से कुछ हम मध्यवर्ती देवताओं को बिना प्रणिपात किये सीधे भगवान् से अपना योग स्थापित करने में समर्थ होते हैं। हम लोग मनोरथों के सारथी हैं। किन्तु कुछ पुरुषोत्तम आरम्भ से ही शून्य-मनोरथ होकर भगवान् में सन्निविष्ट होते हैं। उन पर हमारा शासन नहीं चलता। इच्छाओं के तन्तुओं द्वारा ही मानव-चित्त में हमारा अधिकार-प्रवेश है। उन तन्तुओं का सहारा जहाँ हमें नहीं है, वहाँ हम निष्फल हैं। सौधर्म, धरती पर ऐसे पुरुष जन्म पाते हैं जिनमें प्रवेश के लिए हमें कोई रन्ध्र प्राप्तव्य नहीं होता, ऐसी नीरन्ध्र जिनकी भगवद्भक्ति है।"

सौधर्म ने कहा, "महाराज, क्या वसुन्धरा पर ऐसा पुरुष कोई विद्यमान है जिसमें कामनाएँ नहीं हैं ?"

इन्द्र ने कहा, "सौधर्म, मनुष्य-जाति की ओर से मुझे खटका बना ही रहता है। हम देवताओं को भगवान् की ऋद्धियाँ प्राप्त हैं, फिर भी उनका अनन्य प्रेम प्राप्त नहीं हैं। हम प्रकृति के साथ सम-रस हैं। गम्भीर द्वन्द्व की पीड़ा हम में नहीं है। इससे पाप और प्रयत्न-पुरुषार्थ भी हममें नहीं है। मनुष्य निम्न है, इसी से भगवान् में अभिन्नता पाता है। सौधर्म, तुम कैसे जानोगे ? स्वर्ग का अधिपति होकर मेरे लिये यह कैसी लांछना की बात है कि नर-तन-धारी हम ऋद्धि-धारियों को बीच में उल्लंघन करके प्रभु तक पहुँच जायँ। इससे बड़ी अकृतकार्यता और हमारी क्या हो सकती है ? मनुष्य पामर है, क्षुद्र है, स्वल्प है। हम देवता मनोगति की भाँति अमोघ हैं। फिर भी मनुष्य हमारे वश रहते हमें उल्लंघित कर जाय, यह हमें कैसे सहन हो ?"

सौधर्म ने कहा, "महाराज, आपका रोष उस अपदार्थ मानव की महत्ता बढ़ाता है। वह क्या इसके योग्य है ?"

इन्द्र सुनकर चुप रह गये। पर किसी आसन्न संकट का संशय उनके मन से दूर नहीं हुआ।

एक रोज़ नारदजी ने आकर उन्हें चेताया, कहा, "अरे इन्द्र, तू कैसा स्वर्ग का राज्य करता है ? स्वर्ग को हाथ से छिनाने की इच्छा है क्या ?"

इन्द्र ने सादर पूछा, "क्या महाराज,..."

नारद, 'क्या महाराज करता है ! अरे, ऊर्ध्वबाहु को धरा-शायी करके तेरा काम मिट जाता है क्या ? मालूम नहीं ! भद्रबाहु

के पास से वह फिर नया संकल्प और नया स्वास्थ्य लेकर ब्रह्म की चर्य्या में जुट पड़ा है ? इस बार तेरी खैर नहीं है, रे इन्द्र !"

इन्द्र, "महाराज, मुझे क्या करना चाहिये ?"

नारद, "करना चाहिये यह कि पत्ते-पत्ते से लड़ और जड़ को मत छू। क्यों रे, मुझ से पूछता है क्या करना चाहिये ?"

इन्द्र ने विनत भाव से कहा, "देवर्षि, हम देवताओं को आप ही सरीखे महात्माओं के आदेश का भरोसा है।"

नारद बोले, "इसमें आदेश की क्या बात है ? फल से वैर करता है और जड़ को सुरक्षित रखता है ! फिर अपनी खैर भी चाहता है ?"

इन्द्र ने कहा, "महाराज, आज्ञा करें, उसी का पालन होगा।"

नारद, "सुन रे इन्द्र, वह ऊर्ध्वबाहु प्रार्थी होकर फिर गुरु भद्रबाहु के पास गया। कहा—'हे गुरुवर, इन्द्र की माया ने मेरी साधना भङ्ग की है। आपके पास आया हूँ कि वह मन्त्र दें कि तप अखण्ड और अमोघ हो।' जानता है रे, भद्रबाहु ने क्या किया ?"

"नहीं, महाराज !"

नारद, "स्वर्ग का अधिपति तो क्या तू केलि-क्रीड़ा के लिये ही बन बैठा है ? ऊर्ध्वबाहु पर गुरु की कृपा न थी, पर इस बार उन्होंने उसे सिद्ध-मन्त्र दिया है, रे असावधान ?"

इन्द्र ने कहा, "ऊर्ध्वबाहु के मन में तो महाराज, स्पर्द्धा है। स्पर्द्धा में तो साधना की सिद्धि का विधान नहीं है, महाराज !"

नारद, "सिद्धि नहीं तो ऋद्धि का तो विधान है, रे जड़ ! सिद्धि को तू क्या जानता ? पर ऋद्धि का तुझे भय नहीं है रे, सच कह।"

इन्द्र, "वही भय है, महाराज !"

नारद, "भय है तो निश्शंक क्या बना हुआ है रे ? भद्रबाहु निर्भय होता जा रहा है, इसकी भी ख़बर है ?"

इन्द्र ने कहा. "भगवन्, मैं अब ख़बर लेता हूँ।"

नारद, "हाँ, अपने कर्त्तव्य की याद और अधिकार की रक्षा करते रहना, समझे ?"

अनन्तर नारद विदा हुए, और इन्द्र ने सदा की भाँति कामदेव को बुला भेजा।

कामदेव स्वर्ग से अनुपस्थित थे, इससे रति आकर उपस्थित हुई और उन्होंने इन्द्र की आज्ञा पूछी।

इन्द्र ने हँस कर कहा, "देवि, देव कंदर्प किस कारण अनुपस्थित हैं ?"

रति ने कहा कहा, "भगवन्, पृथ्वी पर उन्हें आज कल काफी काम रहता है।"

इन्द्र ने पूछा, "देवि, तुम्हें वह छोड़ ही जाते हैं ?"

रति ने कहा, "भगवन्, पृथ्वी पर सम्प्रति मनसिज की ही आवश्यकता है ! देह-धर्म से विमुखता का प्रचार होने के कारण मुझे अब सदा उनके साथ जाना नहीं होता है।"

इन्द्र ने कहा, "इस बार देवि, तुम्हें साथ जाना होगा। विषम अवसर आया है। भद्रबाहु के सम्बन्ध में सुना है कि उनमें विमुखता नहीं है। इससे अप्सराओं से काम नहीं चलेगा। सती पत्नी की महिमा ही काम आयगी।"

रति ने कहा, "चित्त लुभाने का काम, देवराज, अप्सराओं का है। वह तुच्छ काम क्या मेरे ऊपर आयगा ? वैज्ञानिक पक्ष में ही मेरा उपयोग है। दूसरा हल्का काम मुझ से न होगा, भगवन् ! सृष्टि से जिस का सीधा सम्बन्ध नहीं है, जो कार्य केवल मन के

व्यापारों तक है, उसमें मुझे रस नहीं है, भगवन् ! किसी को अपने ही विरुद्ध करने में मेरी सहायता न माँगिये।"

इन्द्र ने हँसकर कहा, "कामदेव इसी विशेषज्ञता के कारण तुम्हें यहाँ छोड़ जाते होंगे। देवि ! तुम्हें अपने पति पर श्रद्धा नहीं है ?"

रति, "मैं उनकी अनुवर्तिनी हूँ, भगवन्। पर वह हवा में रहते हैं। उन्हें सदा कहती हूँ कि मनोलोक ही बस नहीं है। पर मैं उन्हें अपने में रोक कहाँ पाती हूँ ? उनका केन्द्र मुझ में हो, पर अप्सराओं को लेकर वह अपनी परिधि-विस्तार में रहते हैं।"

इन्द्र ने कहा, "देवि, तुम स्वर्ग-धर्म को जानती हो। संयम हमारे लिए नहीं है। भद्रबाहु का प्रसंग अति विषम है। देवि, कंदर्प आयें तो उन्हें यहाँ भेज देना। इस बार वह तुमको छोड़कर नहीं जायँगे।"

रति ने कहा, "जिन्हें वह अपनी विजय-यात्रा कहते हैं उनमें उनके साथ जाने को मुझे रुचि नहीं होती, भगवन् ! वह ध्वंसकारी काम है। मुझे सर्जन में रस है। इससे उन्हें मुझे साथ लेजाने को न कहें, भगवन् ! उन्हें बाधा होगी। वह क्षेत्र तैयार कर दें, तब बीज-वपन के समय मुझे आप याद कर सकते हैं।"

इन्द्र ने कहा, "देखो देवि, तुम्हारे स्वामी कदाचित् आ गये हों। उन्हें यहाँ भेज देना।"

रति के अनन्तर कामदेव इन्द्र के समक्ष उपस्थित हुए।

इन्द्र ने कहा, "कामदेव, किसी शङ्का के लिए स्थान तो नहीं है ? नारद जी कह गये हैं कि फल से अधिक बीज की ओर ध्यान देना चाहिए। कहीं अनिष्ट का बीज-वपन तो नहीं हो रहा है ? मुझे पृथ्वी की ओर से ही संशय रहता है।"

कामदेव ने कहा, "महाराज, निश्चिन्त रहें। धरा-लोक काम-

नाओं के चक्र-व्यूह में है। वह मेरा चक्र आपकी कृपा से वहाँ सफलतापूर्वक चल रहा है।"

इन्द्र ने कहा, "मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ, कामदेव! लेकिन मानव में महत्-कामना मुझे प्रिय नहीं है। तुम अकेले जाकर मनुष्य में महत्-कामना की सम्भावना को भी जगा देते हो, इससे रति को साथ ले जाया करो।"

कामदेव ने आश्चर्य से कहा, "हमारी कन्दर्प-सेना में एक-से-एक बढ़कर जो अप्सराएँ हैं, उन पर क्या श्रीमान् का भरोसा नहीं है?"

इन्द्र ने हँसकर कहा, "वह वाहिनी तो स्वर्ग की विजय-पताका है। किन्तु चित्त की अशान्ति शक्ति को भी जन्म देती है, कामदेव। अप्सराएँ घोर आकाँक्षा पैदा करके जो मनुष्य को अशान्त छोड़ती हैं; उससे स्वर्ग को खतरा बना रहता है। पृथ्वी के लोगों को घर और परिवार देकर किञ्चित् शान्त रखना होगा। नहीं तो उद्दीप्त अकाँक्षा अतृप्ति में से निकलकर कठोर तपश्चर्या का रूप जब लेगी तब हमारा आसन डिगे बिना न रहेगा। समझते हो न, कामदेव?—ऊर्ध्वबाहु का क्या हाल है?"

कामदेव ने हँसकर कहा, "टूटकर वह मरम्मत के लिए गया था। अब साबित होकर फिर उत्पात-साधना की तैयारी में उसे सुनता हूँ, देव!"

इन्द्र, "टूटे हुओं को जोड़ने का काम कौन करता है, कामदेव?"

"ऊर्ध्वबाहु गुरु भद्रबाहु के आश्रम से पुनः साहस और स्वास्थ्य लेकर लौटा है, यह सुनता हूँ, महाराज!"

"भद्रबाहु से भेंट की है तुमने, कामदेव?"

"वह अविचारणीय है, भगवन्! उसे निस्पृह निरीह प्राणी सुनता हूँ। आस-पास उसके कहीं चमक नहीं दीखती। तेज सूक्ष्म भी हो भगवन्, मेरी दृष्टि से वह नहीं बचता। तेजोगर्व की एक विद्युत-रेखा को भी मैंने वहाँ नहीं पाया है। मनुष्यों की बुद्धि पर न जाइए, भगवन्! वे तो पत्थर को भी पूजते हैं। भद्रबाहु में यदि कुछ होता तो भगवन्, मेरी दृष्टि से नहीं बच सकता था। वह तो स्थाणु है। और जैसा सुनता हूँ, तनिक भी व्यक्ति नहीं है। आप के मुँह से उसका नाम सुनता हूँ,इसकी ही मुझे लज्जा है, भगवन्!"

इन्द्र ने कहा, "कामदेव, तुम सब नहीं जानते हो। जाओ, भद्रबाहु से भेंट करके आओ और मुझे कहो।"

कामदेव सुनकर पृथ्वी पर गये और एक पक्ष के अनन्तर लौट कर इन्द्र को प्रणाम किया और कहा, "महाराज, मैं लौट आया हूँ। ये दिन मेरे व्यर्थ गये हैं।"

इन्द्र ने वृत्तान्त पूछा। तब कामदेव ने कहा,"मैं साथ सर्वश्रेष्ठ अप्सराओं को लेकर भद्रबाहु के आश्रम में गया था। वहाँ मुझे तपश्चर्या का कोई आभास प्राप्त नहीं हुआ। हम लोग पहले अलक्ष में ही रहे। वहाँ का वातावरण शुष्क नहीं था। आश्रम में महिलाएँ थीं, संगीत था, लता-पुष्प थे। ऋतुओं के विषय में भी हमें विशेष करना शेष न था। अन्त में मैं युवराज बना और अप्सराएँ परिचारिका बनीं, और इस रूप में हम लोगों ने प्रत्यक्ष होकर आश्रम में प्रवेश किया। वहाँ किसी को हमारे प्रति विस्मय नहीं हुआ, न वितृष्णा हुई। भद्रबाहु के पास जाकर मैंने कहा कि हम आमोद-प्रमोद के लिए वन में आये थे। सेवक लोग पीछे आने वाले थे। इतने में तूफान आ गया और हम भटक गये। अब हमारे अनुचरों का पता नहीं है। आश्रम में हम लोगों के योग्य

कोई स्थान दे सकें तो कृपा हो। मैंने यह भी कहा मेरे साथ की प्रवीणाएँ-नृत्य-वाद्य-कला में विशारद हैं। गुरु ने कहा, बहुत शुभ है। सन्ध्या-कीर्तन के समय ये सुन्दरियाँ नृत्य कर सकेंगी तो आश्रमवासी तृप्त होंगे। मैंने यहाँ के समान पराग-परिधान में ही अप्सराओं को प्रस्तुत किया। उन्होंने भी वहाँ उल्लंग नृत्य का ठाठ वाँधा। भद्रबाहु विभोर भाव से सब देखते सुनते रहे। कीर्तन के अनन्तर उन्होंने मुझे कहा, 'ये गणिकाएँ तो नहीं हैं, राजन्? भगवत् मूर्ति की ओर उनका ध्यान नहीं था, समुपस्थित नर-नारियों की ओर उनकी दृष्टि थी। क्या कीर्तन की मर्यादा का उन्हें ज्ञान नहीं है, राजपुत्र?' मैंने कहा, 'श्रीमान् मैं युवराज हूँ। हम लोग राजसी हैं। क्या शुद्ध कला का यहाँ अवसर नहीं है?' बोले, 'अवसर है। किन्तु कला भगवन् निमित्त है। कल सन्ध्या-कीर्तन में आप देखियेगा।' अगले दिन कीर्तन में आश्रमवासी कुछ स्त्री-पुरुषों ने मिलकर नृत्य किया। अप्सराएँ वे न थीं, पर हम सब उन्हें देखते रह गये। मैं इस तरह एक-पर-एक दिन निकालता हुआ पूरा पक्ष भरा वहाँ रहा। भद्रबाहु में इम में से किसी से भय न था, न अरुचि थी। सच पूछिए तो इस कारण हम में ही किंचित् उनका भय हो आया। वहाँ हमने अपनी कोई आवश्यकता नहीं पाई। हमारे वहाँ रहते एक वसन्तोत्सव भी मनाया गया। मुझे आश्रम में अपने निमित्त का यह उत्सव देख कर विस्मय हुआ, किन्तु वहाँ किसी को इस अनुमान की आवश्यकता न हुई कि उस उत्सव में स्वयं ही व्यर्थ होता हुआ मदन देव उनके बीच कहीं हो सकता है! मैं पूछता हूँ भगवन्, आपने मुझे ऐसी जगह क्यों भेजा, जहाँ मेरे प्रति कोई विरोध नहीं है कि उसे जय करूँ।"

इन्द्र सुनते रहे। बोले, "तुम रति को साथ नहीं ले गये?"

कामदेव, "जी, नहीं ले गया था।"

इन्द्र ने कहा, "कामदेव, विरोध है वहीं तुम्हारी जय है। स्वीकृति है वहाँ तुम्हारा मार्ग अवरुद्ध है। इसी से कहता हूँ कि रति को साथ ले जाना था, लेकिन अब क्या होगा?"

कामदेव ने कहा, "स्वर्ग-राज्य को भद्रबाहु की ओर से कोई चिन्ता नहीं होनी चाहिये, भगवन्।"

इन्द्र ने कहा, "चिन्ता तो है ही कामदेव! पर तुम नहीं जानते। तुम जाओ।"

कामदेव के जाने के अनन्तर इन्द्र कुछ विचार में पड़ गये। स्वर्ग में एक यही वस्तु निषिद्ध है, विचार। शची ने स्वामी के मस्तक पर रेखाएँ देखीं और नेत्र निम्न देखे तो कहा, "क्या सोच है, नाथ?"

इन्द्र ने कहा, "कुछ नहीं शुभे, मुझे नारद जी के पास जाना है।"

शची ने कहा, "आर्य, नारदजी का वास कहीं है भी जो तुम जाओगे? तुमको आज यह क्या हो गया है? विचार तो यहाँ वर्जित है। तुम यहाँ के अधिपति होकर स्वयं स्वर्ग-नियम का उल्लङ्घन करोगे? याद नहीं है क्या कि नारद कहीं एक जगह नहीं रहते और वे सदा स्वयं ही आते हैं, कोई उनके पास नहीं जाता?"

इन्द्र ने कहा, "ठीक है शुभे, मुझ में विकार आया है।"

"किन्तु विकार का कारण?"

"सदा सबका कारण पृथ्वी है, शची! उस पर का मनुष्य हमें चैन नहीं लेने देता है।"

शची, "इस बार क्या हुआ है? अनेकानेक ऋद्धिधारियों की देव-सेना जो तुम्हारे पास है। उसके रहते तुम्हें किस विचार की आवश्यकता है, देव?"

"ठीक कहती हो, शची! पर मनुष्य विकराल प्राणी है। जब वह कुछ नहीं चाहता, तभी वह अजेय है। नारद जी से त्राण का उपाय पूछना होगा, देवि! नहीं तो मेरा इन्द्रत्व कहीं बाहर से नहीं अन्दर से ही मुझ में समाप्त हो जायगा, शची!"

शची ने कहा, "जरूर तुम्हें विकार हुआ है, आर्य! देवता होकर मनुष्य की-सी भाषा बोल रहे हो। केलि की भाषा हमारी है। यह ज्ञान की-सी वाणी तुम्हारे मुँह में किसने दी? क्या नृत्य-किन्नरियों को बुलाऊँ, कि तुम्हारा उपचार हो? उर्वशी, तिलोत्तमा—"

"ठहरो शची, वह वीणा सुन पड़ती है, नारदजी आते हैं।"

नारद जी के आने पर शची ने तत्काल कहा, "देवर्षि, देखिये, चिन्ता-विचार यहाँ वर्जित हैं। ये स्वयं नियमों के प्रतिपालक हैं। फिर इनको देखिये कि विचार में पड़े हुए हैं। क्या यह अशुभ और अक्षम्य नहीं है?"

नारद ने इन्द्र से पूछा, "क्या चिन्ता है, वत्स!"

इन्द्र, "सेनानी मदनदेव भद्रबाहु के पास से निष्फल लौट आये हैं, भगवन्!"

नारद ने दपटकर कहा, "स्वयं करने का काम दूसरे से करा लेगा रे, इन्द्र? ये भद्रबाहु हैं, ऊर्ध्वबाहु नहीं। सेना भेजकर सन्त को जीतेगा, क्यों रे, दम्भी?"

इन्द्र ने चकित होकर पूछा, "तो फिर क्या करना होगा, भगवन्?"

नारदजी ने कहा, "करना क्या होगा रे? अपनी श्रेष्ठता को अपने पास नहीं रखना होगा। इन्द्र है, स्वर्ग का अधीश्वर है, तो क्या तू ही सब-कुछ है? अपने आसन को रखने के लिए भी तुझे सदा उसके ऊपर ही नहीं बैठना होगा, नीचे भी आना होगा।

नहीं तो आसन से चिपकेगा, तो वही न बन्धन हो जायगा, क्यों रे ?"

इन्द्र ने कहा, "भगवन्, मैं मूढ़-बुद्धि हूँ, समझा कर कहें।"

नारदजी बोले, "बुद्धि तुझ में कहाँ है, जो मूढ़ तू हो रे निर्बुद्धि ? यह कैसी बात करता है। सन्त को अजेय समझता है ? यही तो तेरे इन्द्रत्व की मर्यादा है। निस्पृह को भी स्पृहा है रे पागल ! जा सन्त को सेवा से जीत। अभिमान रखके किसी का मान तोड़ा जा सकता है, रे ! पर जिसके पास मान नहीं है वहाँ आँसू लेके जायगा तभी जीतेगा। सन्त की स्पृहा को तू नहीं जानता है, रे मूढ़ ! त्रिभुवन का दर्प उसे शून्यवत् होता है और गलित मान की एक बूँद में वह डूब जाता है। यह नहीं जानता है, रे असावधान, तो ऊपर बैठ-बैठ कर अपने नीचे इन्द्रासन की भी तू रक्षा नहीं कर सकेगा। सुनता है ?"

इन्द्र ने कहा, "भगवन्, यही करूँगा।"

"करेगा क्या मेरे लिये, रे इन्द्रासन की चिन्ता होगी तो आप ही सन्तों के आगे झुकता फिरेगा। इसमें मुझसे क्या कहने चला है ? मैं क्या किसी का बोझ लेता फिरता हूँ, रे मनचले ?"

कहकर नारद वहाँ से चल दिये।

इन्द्र ने तब प्रसन्न भाव से कहा, "शची, आओ चलो, मानव से अपना आशीर्वाद पाने चलें।"

शची, "रति को साथ लेना है ?"

इन्द्र, "नहीं, हम दोनों ही चलेंगे।"

शची मुग्ध भाव से साथ हो ली।

गुरु कात्यायन

तत्त्ववागीश महापण्डित कात्यायन उस दिन देर रात तक सो नहीं सके। परमहंस सन्त मधुसूदन को उन्होंने तत्त्वार्थ में परास्त किया था। किन्तु सन्ध्यान्तर अकेले हुए तब मधुसूदन की बातें उन्हें घेरने लगीं। तब वह यत्न करके भी पूरी तरह उन से छूट नहीं सके।

रात में उन्होंने देखा कि शिव-पार्वती उनके घर में आ गये हैं। घर की दीवारें लुप्त हो गयीं हैं और कैलाश के स्फटिक से सब कहीं प्रकाश ही प्रकाश हो गया है। कात्यायन मारे डर के एक ओर हो रहे।

भगवान् शिव की भृकुटि वक्र थी। वह पार्वती पर अप्रसन्न थे। पार्वती कह रही थीं, "तुम्हारी सृष्टि इतनी बेतुकी क्यों है जी? मधुसूदन के समक्ष कात्यायन गर्व करता है। यह अन्याय तुम किस प्रकार सहते हो?"

शिव ने कहा, "जहाँ अधिकार नहीं है वहाँ की चर्चा करने की आदत, स्त्री हो, क्या इसलिये नहीं छोड़ सकोगी? चुप रहो।"

पार्वती ने भी आवेश में कहा, "मधुसूदन को मैं जानती हूँ।

बेचारा भक्त गायक है। पर यह कात्यायन भी कभी तुमको या मुझ को याद करता है? शास्त्रार्थ में दिन-रात रहता है, कभी तुम्हारी शरण में जाने की भी उसने इच्छा की है? अपने अहंकार में ही बन्द रहता है।"

शिव ने कहा, "कह दिया, तुम नहीं जानतीं। इससे चुप रहो।"

पार्वती बोली, "तुम तो भोले हो, जो वरदान माँगे, दे देते हो। पीछे चाहे वह तुम्हारा नाम ले! मधुसूदन को तुम्हारी रट के सिवा दूसरा काम नहीं है। वह अकेला माँगता फिरता है और भजन गाता है। यह कात्यायन शास्त्रों के वेष्ठनों से पार तक निगाह नहीं लाता। वेष्ठनों में शास्त्रों को और शास्त्रों में अपने को लपेट कर वह जगद्गुरु बना हुआ है। या तो अपनी सृष्टि को मुझ से दूर रखो या अगर चाहते हो कि मैं उस पर आँख रखूँ और स्नेह रखूँ तो इस अंधेर को हटाओ। तीन नेत्र लेकर भी सृष्टि की तरफ से ऐसे सोते तुम क्यों रहते हो? ऐसा भी नशे का क्या प्रेम! कुछ व्यवस्था से रहो और सृष्टि को व्यवस्था से रखो। मैं बताओ क्या सम्हालूँ। कहीं कुछ घर जैसा हो भी। न भोजन का ठीक, न बसने का ठीक। धतूरा खाओगे, खाल पहनोगे, साँप का शृंगार करोगे, धरती को उजाड़ोगे। मैं कहूँगी तो कहोगे कि तुम नहीं जानतीं, चुप रहो। और छोड़ो, पर यह कात्यायन जो स्त्री की निन्दा करता है। उस का गर्व गिरेगा नहीं तब तक मैं नहीं मानूँगी।"

शङ्कर बोले, "तुम नहीं समझती हो पार्वती। उसकी निन्दा में वन्दना है। आत्मरक्षा में उसकी वन्दना निन्दा का रूप लेती है। उसके गर्व में मुझे हर्ष है। गर्व काल के निकट है। स्नेह में मुझे भय है। स्नेह से सृजन होता है? संहार में गर्व ही ईंधन है। पार्वती, तुम दुर्गा, चण्डी, काली हो इसी से मेरी हो। गीत गाकर

तुम मेरी नहीं बनीं। कात्यायन जैसे संसार को बढ़ाते हैं। मधुसूदन जैसे सब हों तो जगत् की मुक्ति न हो जाय? इससे सृष्टि के हित में मैं यही कर सकता हूँ कि मधुसूदन बनने का बिरलों को साहस हो। सब कात्यायन बनने की स्पर्धा करें। पढ़ें और पढ़कर तर्क को पैना करें और जुबान को धार दें, इससे कि सामने कोई न ठहर सके और स्नेह जल जाय। यह स्नेह ही संहार को बुझाता है दर्प उसको भड़काता है। ये स्नेह और भक्ति किसी तरह मिटें तो मैं सब देवताओं से कहूँ कि लो, देखो, तुम्हारी सृष्टि कैसी प्रलय में ध्वंस हो रही है। पार्वती, ये गर्वोद्धत वाग्मी विद्वान् जगत् में सार्थक हैं, क्योंकि कलह सार्थक है। ताण्डव तो मुझे प्रिय है, पार्वती। प्रलय में ताण्डव की शोभा है।"

यह कहते समय पार्वती के समक्ष भगवान् का वही रूप आया जिस पर वह मुग्ध हैं। पर उस रूप से वह डरती भी हैं।

शङ्कर ने पार्वती को मुग्ध और सभीत अवस्था में देखा तो स्मित हास्य से बोले, "पर क्या करूँ पार्वती, आदि में ही मैं हारा हुआ हूँ। तुम डर कर मुझ में स्नेह जगा देती हो। यही तो है जिससे विष्णु के आगे मुझे झुकना होता है। पार्वती भक्त मधुसूदन विष्णु की रक्षा में है। पराजय में भी वह रक्षित है। कात्यायन उसे जीत सकता है, पर उसे पा कहाँ सकता है? तुम कैसी भोली हो पार्वती कि मेरे आगे होकर जो आदि देव हैं उनको अपने से ओझल होने देती और कात्यायन पर रोष करती हो। कात्यायन अधिक के योग्य नहीं है। इससे जितना मिलता है उतना तो उसे मिलने दो। जग की मान-बड़ाई से अधिक वह पा नहीं सकता। बेचारा उतने में अपने को भूल भी सकता है। ऐसे अभागे को मुझ से और क्यों वञ्चित करने को कहती हो?"

गुरु कात्यायन अपनी जगह से यह सुन रहे थे। शिव की मुद्रा और पार्वती की वाणी से उनका मन दहल गया था। अब उनको चैन न थी। सोचने लगे कि चलूँ माता पार्वती के चरणों में गिरकर कहूँ कि मैं कात्यायन हूँ, माता। पण्डित नहीं हूँ, अबोध बालक हूँ। पार्वती के बाद शिव के पास जाने या उनकी ओर निहारने का साहस उन्हें नहीं था। दूर से ही उनकी कान्ति को देख कर घबराहट छूटती थी। कात्यायन ने मानो उठ कर बढ़ने की कोशिश की, पर अनुभव हुआ कि सब तरफ बर्फ ही बर्फ है। ठण्ड के मारे हाथ पैर नहीं खुलते हैं। उन से उठा नहीं गया, बढ़ा नहीं गया। तभी प्रतीत हुआ कि बर्फ पैरों से ऊपर चल रही है। धीरे-धीरे समूचे शरीर को बर्फ के स्पर्श ने लपेट लिया। वह बहुत कातर हो आये।

वहीं से चिल्लाए, 'माता'। लेकिन आवाज निकली नहीं और माता ने नहीं सुना। उनको संशय हुआ कि भगवान् अब प्रस्थान करने वाले हैं। तब बहुत जोर लगा कर उन्होंने उठना चाहा। पर जाने क्या जकड़ थी कि हिला-डुला भी नहीं गया। उस समय उन्होंने बैठे-ही-बैठे माथा झुकाया। माथा झुका, झुका, झुकता ही गया। मानो वह अतल की ओर खिंचे जा रहे हैं। रोकते हैं पर रोक नहीं सकते। क्या वह लुढ़क रहे हैं? शायद हाँ! संज्ञा उन की खो रही है। गिरे-गिरे और मुँह के बल कैलाश की बर्फ पर आ पड़े।

सिर धरती में लगा तो कात्यायन जगे। पाया कि देह सरदी से ठिठुर रही है और वह औंधे-मुँह धरती पर पड़े हैं।

नारद का अर्घ्य

संध्या हो रही थी। उस समय दोनों भाई धनराज और जन-राज काम से हटकर घरकी ओर लौट कर चले। एक ने बैलों को खोलकर आगे ले लिया, दूसरे ने हल सँभाला, और वे दोनों अपने परिश्रम के सुख में चूर, होनहार की ओर से निश्शंक, घर की ओर खेत की बातचीत करते हुए चले जा रहे थे।

घर आकर दोनों अपने-अपने काम में लग गये। एक बैलों को सहला कर दाना-पानी डालने लगा, दूसरा घर की देख-रेख में लग गया। उनका खेत अच्छा नाज देता था और भगवान् भी सदा उनके सहाई रहते थे। खेत के हरे-हरे पौधे बढ़कर जब बाल दे आते, तब वे परमात्मा का धन्यवाद मानते थे। और उसकी प्रकृति की इस लीला पर विस्मित हो-हो रहते थे कि एक बीज से सहस्रों दाने बन जाते हैं। उनका मन इस सबके रहस्य पर प्रकृति के अधि-पति उस परमेश्वर का बहुत ऋणी हो आता था और तब दोनों भाई कृतज्ञता के आँसुओं से भरे एक दूसरे के लिए जीने और एक दूसरे के लिए मरने की लालसा से भीगे हो रहते थे।

महादेव शिवशंकर उस समय कैलाश के शिखर पर व्याघ्रचर्म पर आसीन ध्यानस्थ बैठे थे। उनकी आँख के नीचे बहुत दूर कन्दुकाकार पृथ्वी शनैः-शनैः अँधियारी पड़ती जा रही थी। उस बूँद-सी धरती के चारों ओर और नाना परिमाण और आकार की असंख्य कन्दुकाएँ, कुछ प्रकाशित, कुछ अँधेरी और बहुतेरी बाष्पमय, आल-जाल बना रही थीं। उनकी दृष्टि के तले समस्त शून्य में छाई वे छोटी बड़ी गेंदें मानों भ्रमित गति से एक दूसरे को लपेटती हुई फिर रही थीं।

भगवान् शंकर के नेत्र इस समय आधे मुँदे थे। वह अपनी लीला को देखकर मानों आप ही सम्भ्रमित हो रहे थे।

स्वामी की ऐसी हालत पार्वतीजी को नहीं भली लगती। उनसे अन्यत्र होकर यह जग का जगड्वाल क्या है, जो स्वामी को अपने में फाँसेगा। वह भगवान् के पास गईं। लेकिन भगवान् को अपने जगद्बोध से चेत नहीं हुआ। आधे ढँके और आधे व्यक्त, अविराम गतिभ्रम में चकराते हुए माया-पिंड-जाल में भगवान् मुक्त होकर भी मानों आबद्ध थे।

यह देखकर पार्वती जी कुढ़-कुढ़ कर रह गईं। किन्तु भगवान् का तब भी मोह-भंग न हुआ।

इतने में ही दूरसे आती हुई एक इकतारे की तान सुन पड़ी। और उसके पीछे स्वयं ऋषि नारद वहाँ उपस्थित हुए।

नारद ऋषि ने भगवान् को प्रणाम किया। भगवान् ने आशीर्वादपूर्वक ऋषि का कुशल-क्षेम पूछा। पूछा, "कहिए, नारद जी, आनन्द तो है? अन्य पृथ्वी आदि ग्रहों का क्या हाल-चाल है?"

नारद ने निवेदन किया, "भगवन् इस प्रवास में मैंने विशेष कर आपकी प्रिय पृथ्वी का परिपूर्ण परिभ्रमण किया। और वहाँ

सब ठीक है। किन्तु उस ग्रह के धरातल पर जिस मानव नामक जन्तु ने अभी हाल में जन्म लिया है, उस ही जन्तु की जाति कुछ शीघ्रता चाहती है। उन्हें अपने गति-वेग पर तृप्ति नहीं है। वह नवीन मानव-सृष्टि काल की चाल में वेग चाहती है।"

भगवान् ने इस पर अपने वाम पार्श्व में देखा। तदनन्तर स्मित भाव से उन्होंने कहा, "नारद जी, पृथ्वी तो बहुत काल से अब इन (पार्वती) के संरक्षण में है। प्रिये, सुनो, नारद जी क्या कहते हैं ?"

देवी पार्वती ने भृकुटि-निक्षेपपूर्वक अपनी अन्यमनस्कता जतलाई और व्यक्त किया कि नारदजी को जो कहना हो, कह सकते हैं।

नारदजी ने कहा, "देवी महारानी, अपने शक्ति-यन्त्रालय के कारीगरों को आज्ञा दीजिए कि वे पृथ्वी नामक कन्दुक की गति में कुछ तीव्रता का प्रक्षेपण दें। तब पृथ्वी पर प्राणियों में मूर्धन्य जो मनुष्य नामक जीव है, उसको सन्तोष होगा। महामाता, वह मनुष्य नामक प्राणी यद्यपि शरीर में सूक्ष्म और सामर्थ्य में अकिंचन है, फिर भी उसका अहंकार अपरम्पार है। भगवान् ने जो बुद्धि और तर्क का क्षुद्र अस्त्र कृपापूर्वक उसे जीवन-यापन के लिए दिया है, उससे वह मनुष्य नामक प्राणी अपने को मार लेने को तैयार हो गया है। इसलिए महारानी जी, उसकी इस मूर्ख इच्छा में उसकी सहायता करें। अन्यथा वह आत्म-घात करके ब्रह्म-विकास की भगवान् की आयोजना में विघ्नकारक होगी।"

देवी पार्वती ने विस्मय से कहा, "ऐसा है ? उस मनुष्य नामक कीट की उत्पत्ति की बात तो हमको बताई गई थी। क्या अब वही कीट ऐसी जल्दी पर पाकर मरना चाहता है ? वह कीड़ा कैसा है,

इसका बखान ऋषि नारद, आपसे फिर सुनूँगी। अभी तो आइए, देखें, पृथ्वी की गतिमें क्या बाधा पड़ी है।"

* * *

शक्ति-यन्त्रालय में यन्त्रों का अजब ताना-बाना पुरा था। सब-कुछ चल रहा था और प्रत्येक की गति शेष सबकी गति से असम्बद्ध न थी। उस अनथक गतिमान् चक्रव्यूह में से न किसी को रोका जा सकता था, न ऋण किया जा सकता था, न किसी को समझा जा सकता था। सभी कुछ नीरव सतत चल रहा था। गति थी, फिर भी स्थिरता भी अखंड थी। और अति विस्मयजनक विविधता के मध्य में ऐक्य प्रतिपालित था।

देवी पार्वती के साथ ऋषि नारद यन्त्रालय में उपस्थित होकर चकित रह गये। उन्होंने मन-ही-मन भगवान् का स्मरण किया और उनकी महिमा का स्तवन किया। इस भक्ति-प्रणमन में ऋषि नारद की आँखें तनिक मुँद आईं। अनन्तर जब उनकी आँख खुली, तब ऋषिने देखा कि महादेवी सती पार्वती धीरे-धीरे साव-धानतापूर्वक विश्व-संचालन में उपस्थित हुई किसी अनजान अनपेक्षित बाधा की आहट टोहती हुई घूम-घूम कर यन्त्रालय का निरीक्षण कर रही हैं। अकस्मात् एक स्थल पर वह रुकीं। उन्होंने वहीं झुक कर कान लगाकर मानों कुछ सुनना चाहा। जब माता का मुख ऊपर उठा तब नारदजी ने देखा, उस मुख पर किंचित चिन्ता की रेख उदय हो आई है।

देवी पार्वती ने नारदजी को पास बुलाया। आतुरभाव से पूछा, "ऋषिवर, यह पृथ्वी क्यों उड़ने के लिए रोती है? उसको क्या विश्वास कठिन हो गया है कि मैं उसे प्रेम करता हूँ? यदि मान्य, वह फिर क्या चाहती है?"

नारदजी ने कहा, "वह त्वरा चाहती है, माता। जब बैठी है तो उठना चाहती है। उठ खड़ी है, तो चलना चाहती है। चल रही है, तब भागना चाहती है। भागती हो, तो उड़ना चाहती है। माता पार्वती, वह 'कुछ और' चाहती है—कुछ और, कुछ आगे, कुछ अप्राप्त, कुछ निषिद्ध।"

पार्वतीजी की खुली आँखें मानों निर्निमेष हो गईं। आँखों में से धीरे-धीरे बनकर एक-एक मोती ढुल पड़ा। उन्होंने कहा, "मुनिवर, मेरी पृथ्वी क्या पगली हुई है? अरे, वह क्यों पगली होगई है। भगवान की मंगलमय इच्छा में मेरी पृथ्वी विकार क्यों लाना चाहती है, मुने?"

नारदजी ने पूछा, "माते, आपने अभी सुनकर क्या सूचना प्राप्त की है, क्या यह मैं जान सकता हूँ?

पार्वतीजी ने कहा, "ऋषिश्रेष्ठ, पृथ्वी अन्तर्चक्र में चल तो रही ही है। न चले, इसमें उसका वश नहीं है। किन्तु चलते-चलते वह चूँ-चूँ कर रही है। यही मैंने अभी सुना। चूँ-चूँ करके वह क्यों रोती है, जब कि इसी नियोजित चाल में उसकी मुक्ति है?...किन्तु आप कहते हैं, मेरे ही उत्तम-अंग-रूप वे बेचारे मानव-जीव आकांक्षी हैं। तो मुने, अच्छी बात है—निःकांक्ष्य यदि मनुज नहीं हो पाता तो उस बेचारे की आकांक्षा को मैं विमुखता न दूँगी।"

यह कहकर पार्वतीजी ने अपने आपादलम्बित सस्निग्ध केशों की एक मुक्तक लट को वाम हाथ से थाम आगे किया और दक्षिण कर की उँगलियों की चुटकी से उस लट को निचोड़ते हुए कालकूट अमृत की एक बूँद को पृथ्वी की धुरी में चुआ दिया। उस बूँद को पृथ्वी देखते-देखते पी गई। माता पार्वती ने फिर झुककर कान लगाकर सुना। अनन्तर मुख को ऊपर उठाकर, कुछ प्रसन्न, कुछ

खिन्न, करुण वाणी में देवी पार्वती ने नारदजी से कहा, "हे मुने, पृथ्वी को मैंने आकांक्षित दान दिया है। आप अब वहाँ जाकर फल देखिए। उस जगतीतल की मानव-जन्तु की जाति को उस फल के स्वाद से निश्शेष होने पर फिर कुछ और कहना हुआ, तो मैं फिर सुनूँगी। किन्तु मुनिवर, मेरी पृथ्वी बड़ी पगली है।"

ऋषि नारद का हृदय गद्‌गद हो आया। वे यन्त्रालय से बाहर आ गये और प्रभु शंकर की और माता पार्वती की महामहिमा के गान में इकतारा बजाते हुए बिहार कर गये।

* * *

रात को पृथ्वीमंडल पर कुछ भूचाल-सा आया। मानों एक साथ पृथ्वी की काया में कहीं से विद्युत् भर गई। मानों कई सदियाँ पल-ही-पल में बीत गईं। अत्यन्त वेग से आघूर्णमान चाक जैसे स्थिर दीख पड़ता है वैसे ही वह रात्रि जगत् के प्राणियों को अति स्तब्ध और गतिशून्य मालूम हुई। बस, उस अलौकिक गति की सर्राहट का सन्नाटा ही धरती के जीवों को हठात् बोध हुआ।

किन्तु जब सूर्योदय हुआ, तब मनुजों ने देखा कि धरती की जैसे कायापलट हो गई है। फसल जो धरती से फूट रही थी, पकी, सुनहरी, झूमती हुई लहरा रही है। धरती ने मानो अपने कोश में से कबका संचित अन्न इस बार उगल डाला है। लोगों में अत्यंत उत्साह उमड़ आया, अब उन्होंने पाया कि धन से धरती भरपूर हुई बिछी है और उत्साह में लालसा भी लहकी।

धनराज ने उठकर देखा। उसका मन आनन्द से भर गया। साथ ही लोभ भी उसमें भरने लगा।

जनराज ने पृथ्वी पर यह बिखरी हुई दौलत देखी। उसने मानों स्वर्ग पा लिया। और उसे इच्छा हुई कि वह सब-कुछ बटोर कर रख ले।

धनराज ने सोचा कि परमात्मा की नेमत बरसी है। मुझे चाहिए कि मैं जल्दी-जल्दी संग्रह कर लूँ। जनराज को कहीं पता न लगे।

जनराज ने सोचा कि जबतक धनराज को चेत हो, क्यों न वह उससे पहले ही अपना घर भर ले। क्योंकि आज तो यह विपुलता है। कल जाने क्या होने वाला हो।

धनराज और सब-कुछ भूलकर लपकता हुआ पकी हुई सुनहरी फसल काटने चला। घर से निकला कि उसने देखा जनराज भी दराँत सँभाले बढ़ा चला आ रहा है। दोनों ने आपस में बातें नहीं कीं। बस दोनों ने रुद्ध, अव्यक्त भीतरी रोष से एक दूसरे को देखा।

वहाँ से अपना-मेरा का कीड़ा दोनों के भीतर पैठ गया।

इसके बाद धनराज ने अपने झोंपड़े के उत्तर के जनराज वाले कोने में और जनराज ने उसी झोंपड़े के दक्षिण के धनराज वाले कोने में एक ही रात को किस प्रकार आग लगा कर अपने संयुक्त प्रेम को स्वाहा कर दिया,—यह पुरानी कहानी है।

* * *

राह-राह में और नगर-नगर में इस कहानी की मुहुर्मुहुः पुनरावृत्तियाँ देखते हुए मुनि नारद अपने इकतारे की झंकार के साथ महाप्रभु शंकर और महामाता गौरी की महामहिम माया का स्तवगान करते हुए पृथ्वी के चारों ओर परिभ्रमण करते रहे।

तब से वह विश्व की संहार-लीला में प्रभु का यशोगान करते हुए विचरण ही करते आ रहे हैं।

इसी भाँति ऋषि नारद अपनी वेदना को आनन्दमय और अर्थमय और इकतारे की गूँज के के साथ उसे अर्घ्यमय बनाते और माता के चरणों में होम देते हैं।

अनबन

स्वर्ग में इन्द्र के पास शिकायत पहुँची कि धृति और बुद्धि—इन दोनों में अनबन बनी रहती है। यह बुरी बात है और अनबन मिटनी ही चाहिए।

इन्द्र ने बुद्धि को बुलाया। पूछा, "क्यों बुद्धि, यह मैं क्या सुनता हूँ ? धृति के साथ तुम्हारी अनबन की बात बहुत दिनों से सुनता रहा हूँ। यह बात तुम्हारी और स्वर्ग की प्रतिष्ठा के योग्य नहीं है।"

बुद्धि, "मेरा इसमें क्या दोष है ? मुझे अप्सराओं में प्रमुख पद दिया गया; लेकिन धृति मेरी प्रमुखता नहीं मानती। यह धृति ही का दोष है।"

इन्द्र, "धृति क्या कहती है ? कैसे वह तुम्हारी प्रमुखता नहीं मानती ?"

बुद्धि, "वह बड़ी चतुर है। ऊपर से तो सीधी बनी रहती है, पर भीतर अभिमानिनी है। उसके चेहरे पर मेरे लिए अवज्ञा लिखी रहती है।"

इन्द्र, "अवज्ञा तो ठीक नहीं है। तुम प्रमुख हो, तब तुम्हारा आदर सबको करना चाहिए।"

बुद्धि, "आदर की भली कही। धृति तो मुझ से बोलती तक नहीं।"

इन्द्र, "अच्छा, मैं धृति को यहीं बुलाता हूँ। बुलाऊँ?"

बुद्धि, "हाँ, बुलाइये। देखिये मैं उसको कायल करती हूँ कि नहीं।" धृति बुलाई गई।

इन्द्र ने पूछा, "क्यों धृति, यह क्या बात मैं सुनता हूँ। अनबन रखना किसी को शोभा नहीं देता। यह बुद्धि कह रही है कि तुम उनको प्रमुख नहीं मानती हो और उनकी अवज्ञा करती हो।"

धृति ने गर्दन नीची करके कहा, "मैंने कभी कुछ कहा हो तो यह बतावें। मुझसे तो वैसे भी बोलना कम आता है।"

बुद्धि, "धृति, सब के सामने बनो नहीं। बिना बोले क्या अवज्ञा नहीं हो सकती? मैं जानती हूँ, तुम मुझे कुछ नहीं समझतीं।"

धृति, "मैंने तो कभी ऐसा नहीं कहा। न कभी ऐसा मन में लाई, आपकी अवज्ञा मैं किस बल पर करूँगी?"

बुद्धि, "बड़ी मीठी बनती हो; लेकिन मुझे छल नहीं सकतीं। उस रोज़ मुझे देखकर तुमने क्यों धीरे-से मुस्कराया था? मैं नाराज़ हो रही थी, और तुम मुस्करा रही थीं, क्या यह मेरा अपमान नहीं है?"

धृति, "आप ऐसी आज्ञा प्रगट कर दें तो मैं अब से मुस्कराऊँगी भी नहीं। अभी मुझे यह पता नहीं दिया गया कि मुस्कराना नहीं चाहिए।"

बुद्धि, "मेरे क्रोध पर तुम हँसोगी? फिर भी इतनी हिम्मत

कि कहो कि मालूम नहीं कि ऐसा हँसना बुरा होता है। इन्द्रजी, देखी आपने इसकी धृष्टता।"

इन्द्र ने कहा, "धृति इनको प्रमुख बनाया गया है, तो इनका मान रखना चाहिए और इनकी आज्ञा माननी चाहिए।"

धृति, "मैं तो सब-कुछ मानती आई हूँ। और भी जो आप और ये कहेंगी मैं मानूँगी। मुझे तो इनसे किसी तरह की शिकायत नहीं है।"

बुद्धि, "शिकायत तुम्हें क्यों होगी। दोष भी करो और शिकायत भी हो?"

धृति, "मैं मानती हूँ, मुझसे दोष हुआ होगा। दोष न हुआ होता, तो मुझ से यह अप्रसन्न न रहतीं।"

बुद्धि, "क्यों, यहाँ इन्द्रजी के सामने चतुराई चलती हो? ऐसे बोलती हो जैसे बड़ी भोली हो।"

धृति, "मैं अपने कसूर के लिए क्षमा मागती हूँ।" यह कहकर धृति नीची गर्दन करके हाथ जोड़कर बुद्धि से क्षमा की याचना करने लगी।

बुद्धि ने कहा कि देखिये इन्द्रजी मैंने बहुत सहा। अब मेरे सहने की सीमा हो गई है। धृति का कपट-व्यवहार अब मुझ से सहा नहीं जाता। मैं आपसे कहती हूँ कि या तो स्वर्ग से उसे निकाल दीजिये, नहीं तो फिर मुझे छुट्टी दीजिए।

यह सुनकर इन्द्र असमन्जस में पड़ गए बोले, "बताओ धृति, मैं अब क्या करूँ?"

धृति, "अपराध मेरा ही रहा होगा। मुझे आप स्वर्ग से निकाल दीजिए।"

इन्द्र, "यह बड़े खेद और लज्जा की बात है, धृति! स्वर्ग में

आकर अभी तक तो किसी ने बाहर नहीं जाना चाहा है। यह तुम दोनों क्या बखेड़ा कर बैठी हो? बुद्धि तुम प्रमुख ठहरीं। कुछ बेजा देखो तो दया से काम ले सकती हो। धृति, तुमको अपने कर्त्तव्य का ध्यान रखना चाहिए। जाओ, अब दोनों शान्ति से रहना, स्वर्ग बहुत बड़ा है, और यहाँ बताओ क्या नहीं है। सुना? अब कोई शिकायत सुनने में न आवे।"

बुद्धि, "इन्द्रजी, आप मुझे क्या समझते हैं? धृति बच्ची होगी, मैं बच्ची नहीं हूँ। मैं बुद्धि हूँ। जहाँ रहूँगी, इज्जत के साथ रहूँगी। इज्जत नहीं तो स्वर्ग क्यों न हो, मुझे नहीं चाहिए।"

इन्द्र, "बुद्धि; तुम अ-स्थान भटक रही थीं। स्वामी महादेव की सिफ़ारिश पर हमने तुम्हें यहाँ स्वर्ग में यह पद दिया। हम जानते हैं कि तुम सब अप्सराओं से योग्य हो; लेकिन स्वर्ग से सहसा गिर कर तुम इतनी मुद्दत मर्त्यलोक में रहीं कि स्वर्ग की प्रकृति तुमको याद नहीं प्रतीत होती है। स्वर्ग में विभेद मत फैलाओ। जैसी शान्ति थी, वैसी रहने दो।"

बुद्धि, "मैं शान्ति तोड़ती हूँ? मैं विभेद फैलाती हूँ? आप साफ क्यों नहीं कहते कि धृति का पक्ष आप लेना चाहते हैं।"

इन्द्र, "नहीं बुद्धि, ऐसा नहीं है। तुम स्वर्ग की न सही, फिर भी स्वर्ग में अद्वतीय हो। तुम मर्त्यलोक की भी द्युति हो। तुम वहाँ की मणि हो। महादेव जी ने जब तुम्हें देखा, मुग्ध हुए बिना नहीं रह सके। उन्हें करुणा भी आई। तुम्हारे तेज का उपयोग देख यहाँ ले आये और यहाँ स्वर्ग की अप्सराओं का तुम्हें प्रमुख पद मिला। बुद्धि, मुझे तुम में भरोसा है। जाओ, धृति बेचारी अबोध है। यह अब से कुछ कसूर न करेगी। क्यों धृति, बुद्धि से बुद्धि सीखो।"

धृति, "मैं अपने काम से काम रखूँगी और कभी इनको शिकायत का मौका नहीं दूँगी।"

बुद्धि, "सच कहती हो?"

धृति, "हाँ, सच कहती हूँ।"

बुद्धि, "और मुझसे बुद्धि सीखोगी?"

धृति, "वह सीखने की तो मुझमें योग्यता भी नहीं है।" बुद्धि हँस आई। बोली, "और अबके दोष हुआ तो दण्ड के लिए तय्यार रहोगी?"

धृति, "रहूँगी।"

बुद्धि, "याद रखना, अबके तम घमण्ड की चाल चलीं, तो यहाँ से निकाल दी जाओगी।"

धृति यह सुनकर नीची गर्दन किये खड़ी रही। इस पर इन्द्र ने कहा, "बुद्धि, धृति बेचारी अदना है। उसका तुम खयाल न करो। उससे ठीक बोलना तक भी नहीं आता। थोड़ा बोलती है, लज्जा आती है। वह तुम्हारे रोष के लायक नहीं है। उससे बराबरी मत ठानो। धृति, चलो, बुद्धि के पैरों में पड़ो।"

धृति सुनकर चुपचाप बुद्धि के पैरों में पड़ गई। इस पर बुद्धि ने कहा, "धृति समझ लिया न। कहती होगी कि यह बुद्धि तो स्वर्ग की नहीं है, जाने किस नरक-लोक की है और अमर नहीं है। लेकिन अब देख लिया न, मैं क्या हूँ। अच्छा जाओ, अब अपना काम देखो।"

धृति इस पर वहाँ से अपना नीचा मुँह किये चली गई। उसके चले जाने के बाद बुद्धि ने कहा, "इन्द्रजी, आप के इस स्वर्ग में अभी बहुत-कुछ सुधार की आवश्यकता है। मिसाल के तौर पर यहाँ दूध और शहद की जो खिलखिलाती स्रोतस्विनी हैं, वे जहाँ-तहाँ

बहती रहती हैं, बाँध-बाँध कर उन्हें अधिक उपयोगी बनाने की आवश्यकता है।"

"यह क्या मतलब है कि जो अच्छा करे, उसे भी भरपूर खाने को मिले और जो कसूर करे, उनके भी खाने में कमी न आये। चारों ओर इस अनायास सुख की आवश्यकता नहीं है। जब तक दण्ड नहीं होगा, तब तक सुख नहीं हो सकता। और सुनिये, पतिव्रत-धर्म यहाँ नहीं है, न एक पत्नीव्रत-धर्म है, इस विषय में नियमहीनता लज्जाजनक है। मैं सब जगह नियमितता पसन्द करती हूँ। सोच रही हूँ कि स्वर्ग के लिए एक विधान तय्यार करूँ, ताकि स्वर्ग का संचालन नियमानुकूल हो।"

इन्द्र, "जो उचित समझती हो करो! मैं किसी और विधान के बारे में नहीं मानता हूँ। विधि-विधान से ही शायद स्वर्ग स्वर्ग है। शेष तुम जानो। मुझे तो अपनी पात्रता से अधिक बुद्धि मिली नहीं। फिर स्वर्ग का कर्ता मैं नहीं हूँ। वह तो ब्रह्मा जी हैं। उनसे मिल-कर स्वर्ग को जैसे चाहो बदल सकती हो। मेरा अपना अधिकार कुछ नहीं है। मुझे तो यही याद नहीं रहता है कि मैं इन्द्र हूँ। तुम लोगों में कभी कुछ बिगाड़ आता है, तभी मुझे अपने इन्द्रपने का पता चलता है। नहीं तो मैं तो तुम सभी का एक हूँ। और एक सच्ची बात कहूँ, बुद्धि ? उसे अन्यथा न समझना। वह यह है कि स्वर्ग की सब अप्सराएँ तुम्हारे सामने माता हैं। तुम सबसे कम सुन्दरी हो। तुम में सौष्ठव नहीं है, भव्यता नहीं है। ठण्डक नहीं है। फिर भी तुम अपने ही रूप से ऐसी रूपसी हो कि स्वर्ग का सात्विक सौन्दर्य हेच मालूम होने लगता है। बुद्धि, तभी तो मन हो आता है कि शची को छोड़ मैं तुम्हारा दास हो जाऊँ।"

यह कहकर इन्द्र मन्द-मन्द हँसने लगे। बुद्धि लाज में किंचित्

अरुण पड़ आई। पीड़ाग्रस्त हो कहने लगी, "आप ऐसा कहेंगे तो मैं महेश के पास शिकायत पहुँचा दूँगी। मैं चिर-कुमारी रहने की शर्त पर यहाँ आई हूँ।"

इन्द्र, "अपने चिर-कौमार्य व्रत के विषय में तुमने महादेव महेश से भी सम्मति प्राप्त की है?"

बुद्धि, "आपको महेश जी से क्या? वह तो देवों के देव हैं। वह निस्संग हैं।"

इन्द्र हँसते हुए बोले कि महादेव जी मृत्युलोक से आते कैसे निस्संग हैं, यह तो हमको ज्ञात नहीं; पर हम स्वर्गवासियों से उनका हँसी-मज़ाक सब चलता है। तुम घबराओ नहीं।

बुद्धि इस सान्त्वना पर एकदम नाराज़ हो गई, और झपट्टे में वहाँ से चली गई। इन्द्र अकेले रहकर मुसकराने लगे।

लाल सरोवर

कमल के फूलों से भरे इस लाल सरोवर की कथा, भाई, प्राचीन है और परम्परा के अनुसार सुनाता हूँ।

बहुत पहले यहाँ से उत्तर-पूरब की तरफ एक नगर बसा हुआ था। उसके बाहर खंडहर की हालत में एक शिवालय था। नगर के लोग उधर तब आते-जाते नहीं थे। वह उजाड़ जगह थी और कहा जाता था कि वहाँ भूत का वास है।

उस शिवालय में जाने कहाँ से एक उदासी जाकर बस गया। वह यहाँ अकेला रहता था। मधुकरी के लिए कभी नगर में आ जाता तो आ जाता, नहीं तो अपने ही स्थान पर नित्य भजन-प्रार्थना में लीन रहता था।

इस भाँति वहाँ रहते हुए उसे दस वर्ष हो गए। इधर बहुत काल हुआ, वह नगर में भी नहीं गया था। लोग शिवालय पर ही आकर उसे भोजन दे जाते थे। वह कुछ नहीं बोलता था। धन्य-वाद या आशीष-वचन भी नहीं देता था। दिन में वह जंगल और खेतों की तरफ निकल जाता और अचरज से सब-कुछ देखा करता था। सुबह-शाम प्रार्थना में, कभी आँख मीचकर, तो कभी दरवाजे

के बाहर की ओर एकटक निगाह से देखते हुए, बिना कुछ कहे, आँसू ढाल कर रोया करता था। उसे दुःख कुछ नहीं था। पर उस के मन में प्रीति बहुत मालूम होती थी।

उसके बारे में कोई कुछ नहीं जानता था कि वह पहले कहाँ रहता था, क्यों यहाँ आया और भविष्य के बारे में उसके क्या विचार हैं ?

इस तरह उसे पाँच वर्ष और बीत गए। एक दिन सवेरे के वक्त उसके पास दर्शनार्थ गाँव के लोग आये हुए थे कि उनमें से एक बोला, "महाराज, ईश्वर के जगत् में बुराई का फल बुरा और नेकी का फल अच्छा होता है। हम आँखों देखते है कि जो पाप-कर्म करता है उसकी पीछे बड़ी दुर्गति होती है।"

उस आदमी ने अपनी इस बात के समर्थन में उदाहरण दिया कि—हमारे ही नगर के बाहर एक कोढ़िन रहती है। वह पहले वेश्या थी। अब सारे तन-बदन से उसके कोढ़ चू रहा है और वह अपनी मौत के दिन गिन रही है।

उस वैरागी ने सुनकर कुछ नहीं कहा। जब लोग चले गए तो उसके मन में यह बात घूमती रही। पाप का फल दुःख और पुण्य का फल सुख होता है। यही बात उसके मन में चक्कर काटती रही। उस कोढ़िन की बात उसके मन से दूर नहीं होती थी, जो अब नगर से बाहर पड़ी अपनी मौत के दिन गिन रही है। उस रात वह रोज से अधिक प्रार्थना में लीन रहा और रोता रहा। शायद उसको रात को भी ठीक तरह नींद नहीं आई। वह कल्पना में उस कोढ़िन को देखने लगा। उसको मालूम होता था कि उस स्त्री की देह से दुर्गन्ध निकल रही है। तन छीज रहा है। और कोई सेवा के लिए उसके पास नहीं है। फूँस की झोंपड़ी में पड़ी है

और चारों तरफ गूदड़ इकट्ठे हो रहे हैं। बास फैली है। कहीं थूक है, कहीं मैल है और वह कोढ़िन अकेले रहते-रहते बड़ी चिड़-चिड़ी हो गई है।

कल्पना में देर तक वह उस स्त्री को देखता रहा। यहाँ तक कि मन में बड़ा कष्ट हो आया।

रात को वह सोया। तब भी वह स्त्री उसके स्वप्न में दूर नहीं हुई; पर उसको ऐसा मालूम हुआ कि कोई उससे कह रहा है—'तू वैरागी है, क्योंकि तुझे खाने-पीने को आराम से मिल जाता है। तू भगत है, क्योंकि लोग तेरी शरधा मानते हैं। पर तू मेरा भगत नहीं है, तन का भगत है।'

उसे मालूम हुआ जैसे उसे कोई उलहना दे रहा है और कह रहा है कि तू अच्छे फल के लिए ही अच्छे काम करता है ना ! तू स्वार्थी है और कुछ नहीं है।

सवेरे जब वह उठा तो उसे कल की बात याद थी। इसलिए शिवालय से उतर कर नगर की ओर मुँह करके वह चल दिया। उसे कुछ ठीक पता नहीं था, पर जैसे पैर अपने-आप उठे जाते थे।

उसी नगर में एक आदमी रहता था। उसका नाम था मंगलदास। मंगलदास साधु-सन्तों में भक्ति-भाव रखता था। समझता था कि तपस्या की बड़ी महिमा है और सन्त लोगों पर ईश्वर की दया रहती है। उनके सत्संग से क्या जाने मुझे भी कुछ लक्ष्मी पाने का सौभाग्य मिल जाय। मंगलदास आदमी समझदार था, विद्यावान् और हुनरमंद था और इज्जत-आबरू वाला था। शिवालय में आकर एकान्त में बसने वाले उस वैरागी की सेवा में सदा भेंट-उपहार लाया करता था। सोचता था—अब फल मिलेगा, अब फल मिलेगा। वह मंगलदास आज सवेरे ही जल्दी उठ गया

था। रात-भर उसके मन में दुविधा रही थी। ये दिन ऐसे ही थे। बाज़ार में तेज़ी-मन्दी हो रही थी। सट्टे के काम में छन में वारे-न्यारे हो जाते थे। आँखों देखते कुछ ने प्रचुर धन बटोर लिया था और कुछ कुबेर जैसे धनी पामाल हो गये थे। पर मंगलदास को भरोसा नहीं जमता था और ख़तरा नहीं उठाना चाहता था। इन मौनी वैरागी पर उसको श्रद्धा थी। सोचता था कि सवेरे ही उनके दर्शन करके जो दाँव लगायगा उसका फल ज़रूर अच्छा ही आयगा। सवेरे-ही-सवेरे चलकर मंगलदास शिवालय पर आया तो रास्ते में क्या देखता है कि एक-एक क़दम पर एक-एक अशर्फ़ी पड़ी है! उसे बड़ा अचम्भा और खुशी हुई। अशर्फ़ी उठाता गया और शिवालय पर आया। पर वहाँ वैरागी नहीं थे। लौटकर वह उसी रास्ते अशर्फ़ियों के पीछे-पीछे चला। अशर्फ़ी उठाकर रखता चला जाता था। इतने में क्या देखता है कि एक ग्वाले का लड़का रास्ता काटकर चला जा रहा है और उसने दो अशर्फ़ियाँ उठा ली हैं। मंगलदास ने बढ़कर उस बालक को पकड़ लिया।

"यह तूने क्यों उठाई हैं रे?"

ग्वाले ने कहा, "रास्ते में पड़ी थीं। मैंने उठा लीं।"

मंगलदास ने उसे बहुत धमकाया, "ऐसे क्या किसी की भी चीज़ उठा लोगे?" फिर कहा, "अशर्फ़ियों की बात किसी से कहना मत।"

इस तरह मंगलदास अशर्फ़ियाँ बीनता-बीनता एक फूँस की नीची-सी मढ़िया पर जा पहुँचा। पर यहाँ उसे बड़ी दुर्गन्ध आई। वहाँ खड़ा रहना उसके लिए मुश्किल था। लेकिन उसे ऐसा मालूम हो रहा था कि यहीं कहीं सोने का ख़जाना है। फिर भी उसके पास की बास और गन्ध के मारे वह अन्दर नहीं गया। उसे पता था

कि यहीं वह कोढ़िन वेश्या अपनी आयु के अन्तिम दिन गिन रही है।

मंगलदास दूर एक जगह बैठकर अपनी अशर्फ़ियाँ देखने और गिनने लगा। वह अपने भाग्य पर बड़ा प्रसन्न था। तीन सौ से ऊपर अशर्फ़ियाँ आज सवेरे कैसे अनायास ही मिल गईं। उसे तो उन्हें साथ बाँधे रखना मुश्किल हो रहा था।

इतने में देखता क्या है कि वेश्या की झोंपड़ी में से शिवालय-वाले वैरागी निकले हैं। उन्होंने झोंपड़ी के चारों तरफ़ की धरती को साफ़ किया। मैला उठाकर दूर एक जगह गड्ढा खोदकर उसमें गाड़ दिया। यह सब करके फिर दुबारा वह कुटी के अन्दर गये। कुछ देर अनन्तर वैरागी बाहर आकर अपने शिवालय की तरफ़ चल दिये।

मंगलदास उनके पीछे-पीछे चला तो क्या देखता है कि जहाँ वैरागी का पैर पड़ता है वहीं एक अशर्फ़ी हो जाती है! उसका मन हर्ष से भर गया। पर मुँह से उसने साँस भी नहीं निकलने दी। वह जल्दी-जल्दी अशर्फ़ियाँ बीनता हुआ वैरागी के पीछे-पीछे कुटी तक गया। लेकिन इस भाँति कि वैरागी को पता न चले। बीच-बीच में वह देखता भी जाता था कि कोई देख तो नहीं रहा है। और जब सब बीन चुका तो लौट कर सीधा अपने घर गया और सब अशर्फ़ियों को अच्छी तरह उसने धरती में गाड़ दिया।

फिर वैरागी के पास शिवालय पर आकर उनके चरणों में फल-फूल रखे और कहा, "महाराज इन्हें स्वीकार करें।"

वैरागी ने प्रीतिभाव से मंगलदास को देख लिया, पर बोले नहीं।

मंगलदास ने कहा, "महाराज, हम संसार में कर्म-बन्ध करते

हुए रहते हैं। मैं अब इस संसार में राग नहीं रखना चाहता हूँ। आपको इस निर्जन स्थान में बड़ा कष्ट होता होगा। मैं आपकी सेवा में उपस्थित रहना चाहता हूँ। मंजूर हो तो सेवक यहाँ शरण में पड़ा रहे।"

वैरागी फिर बिना कुछ बोले मंगलदास को देखते रह गए, जैसे उनकी समझ में कोई बात नहीं आ रही थी।

असल में मंगलदास यह नहीं चाहता था कि वैरागी के चलने से बनने वाली दौलत किसी और के भी हाथ लगे।

उसने कहा, "महाराज, आपकी सेवा कर पाऊँगा तो मेरा जीवन सफल हो जायगा।"

वह वैरागी पुरुष इस पर बहुत हँसा और हाथ हिलाकर उसको कहा, "यहाँ किसी की जरूरत नहीं है।"

तब मंगलदास ने कहा कि, "पास ही फूँस की झोंपड़ी डाल कर अलग पड़ा रहूँगा। मैं तो अपनी आत्मा की भलाई चाहता हूँ। आपकी दया होगी तो जन्म सुधर जायगा।"

वैरागी जवाब में हँस दिये और कुछ नहीं बोले, और मंगलदास ने वहाँ आकर डेरा डाल लिया। वह बड़ी लगन से वैरागी की सेवा करता और हर घड़ी बिना पलक मारे हाज़री में खड़ा रहता था।

वैरागी नित्य सवेरे उस कोढ़िन के पास जाते थे और थोड़ी देर रहकर चले आते थे। हर रोज़ हर क़दम पर अशर्फ़ी बनती थी जिनको मंगलदास होशियारी से बटोर लेता था। बटोर कर घर में दाब आता था।

एक बार की बात है कि चलते-चलते वैरागी को पीछे कुछ झगड़ा होता हुआ मालूम हुआ। उन्होंने लौटकर देखा कि क्या

बात है। देखते हैं तो तीन जने आपस में झगड़ रहे हैं और रास्ते पर कुछ पीले सोने के टुकड़े पड़े हुए हैं।

वैरागी को मुड़ते देखकर झगड़ने वाले तीनों आदमी चुप हो गये और उनको सिर झुका दिया।

वैरागी वहाँ खड़े देखते रहे। उन्होंने पूछा, "क्या बात है?"

जब तीनों में से कोई कुछ नहीं बोला, तब वैरागी ने मंगलदास को इशारा किया कि इन पीले टुकड़ों को उठाओ और इन दोनों को दे डालो

मंगलदास ने वैरागी के कहे मुताबिक़ उन अशर्फ़ियों को उठाया और दोनों को दे दीं।

वैरागी आगे बढ़े, लेकिन उन्हें फिर कुछ झगड़ा सुनाई दिया। इस बार बात और बढ़ गई थी। पर वैरागी ने ध्यान नहीं दिया और कोढ़िन की कुटिया की तरफ़ बढ़ते चले गये।

जब वापिस चलने का समय आया तो मँगलदास आकर वैरागी के चरणों में गिर पड़ा। कहा, "महाराज, मैं आपको पैदल चलने का कष्ट नहीं होने दूँगा। मेरा सिर पाप से मलिन है। अपने कन्धे पर बिठाकर महाराज को मैं ले चलूँगा, तो मेरा तन इससे पवित्र होगा।"

वैरागी यह देख हँसते हुए खड़े रह गए।

असल में मंगलदास यह नहीं चाहता था कि अशर्फ़ियाँ बनें तो किसी और को भी मिल जायँ। उसने आग्रहपूर्वक वैरागी को कन्धों पर बिठाया और दूसरे लोगों को विजय के भाव से देखते हुए उन्हें शिवालय तक ले आया।

लोगों को यह बड़ा बुरा मालूम हुआ। लेकिन वे कर क्या सकते थे। वे सभी अशर्फ़ियाँ चाहते थे, पर कोई यह नहीं चाहता

था कि वैरागी को अपने चलने से अशर्फ़ियाँ पैदा होने की बात मालूम हो। क्योंकि ऐसा होने पर अशर्फ़ियाँ किसी के हाथ नहीं लगेंगी और वैरागी अपना घर भर लेगा। मूरख अनजान है, तभी तो यह आदमी इतना सूखा, दीन और वैरागी बनकर रहता है!

अशर्फ़ी की बात नगर-भर में फैल गई थी। मंगलदास को बड़ी कसक रहने लगी। इसके बाद से वह वैरागी को कन्धे पर ही ले जाया करता था। उसके मन में तरह-तरह के सोच होते। कई हज़ार अशर्फ़ियाँ उसके पास हो गई थीं, लेकिन उसका बढ़ना अब रुक गया था। इससे उसके मन को बहुत क्लेश था। उसने सोचा, "वैरागी को यहाँ से कहीं और ले चलूँ। जहाँ अशर्फ़ी की बात किसी को मालूम न हो। लेकिन कैसे ले चलूँ? कोढ़िन को छोड़कर क्या वैरागी कहीं जाने को राज़ी होगा?"

मंगलदास ने नगरवासियों की एक रोज़ वैरागी से बहुत बुराई की कहा, "यह नगर सन्तों के योग्य बिल्कुल नहीं है, महाराज! अब आप किसी दूसरे देश चलिये। आपका यह सेवक साथ है।"

वैरागी सुनकर हँसता रहा। वह बोलता नहीं था।

मँगलदास खुलकर कुछ कह नहीं सकता था। उसे यह डर रहता था कि कहीं अपनी मर्जी से पैदल चलने की हठ वैरागी न कर बैठे। ऐसे भेद खुल जाता। इससे वह कभी बात बढ़ाता नहीं था।

आख़िर सोचते-सोचते मँगलदास को एक बात सूझी। सोचा कि कोढ़िन अपना कोढ़ लेकर क्यों जिये जा रही है? शिवालय से उसकी झोंपड़ी तक लोगों की आँखें बराबर लगी रहती हैं। वैरागी को यहाँ से वहाँ तक रोज़-रोज़ कन्धे पर ले जाने से मेरा बदन भी

दुखने लगा है और अशर्फियाँ भी नहीं मिलती हैं। इससे क्या फ़ायदा है?

कोढ़िन के दिन निकट आ गये थे और वैरागी की सेवा भी उसके बहुत काम नहीं आ सकी। वह असल में मरना ही चाहती थी। वह ईश्वर की या दुनिया के लोगों की किसी की क्षमा नहीं चाहती थी। उसे अपने पापों का ख्याल था और जानती थी कि यह उसकी सजा है। जब से वैरागी उसके पास आने लगा था तब से उसकी आदत बदलने लगी थी। पहले वह सबको फूहड़ गालियाँ दिया करती थी और दिन-भर बकती रहती थी। वैरागी ने जब हर तरह की गालियाँ खाकर भी उसे कोई चिढ़ाने की बात नहीं कही; बल्कि बिना कुछ बोले वह उसकी कुटिया की सफाई कर देता था, उसका थूक-मैल उठा देता था और उसके गन्दे कपड़े धो देता था तो यह देखकर कोढ़िन को पहले तो कुछ ठीक तरह समझ में नहीं आया। थोड़े दिन बाद कोढ़िन मानने लगी थी कि मेरी मौत जल्दी क्यों नहीं हो जाती है। मेरी वजह से इन भलेमानस को दुःख उठाना पड़ रहा है। वह हर घड़ी ईश्वर से अपनी मौत की याचना करती थी, क्योंकि इन वैरागी की सेवा उससे नहीं सही जाती थी और वह मन-ही मन अपने को बहुत धिक्कारती थी।

इधर वह कोढ़िन मरना चाह रही थी उधर मंगलदास ने सोचा कि, "जब तक यह कोढ़िन यहाँ है वैरागी इस नगर से टलने का नाम नहीं लेता दीखता है। इसलिए इसको खतम करना चाहिए।

यह सोचकर मंगलदास एक रोज़ रात को चुपचाप आया और सोती हुई कोढ़िन का गला दबाकर उसे दुःख-सन्ताप से छुड़ा दिया।

अगले रोज़ मंगलदास के कन्धे पर बैठकर वैरागी बाबा

कोढ़िन की कुटिया पर गये और देखा कि वह मर गई है। तब उन्होंने मंगलदास को कहा कि, "कपड़े-लत्ते जमा करके जला दो। इस फूस की कुटिया को भी जला दो और इस कोढ़िन के शरीर की क्रिया-कर्म का बन्दोबस्त करो।"

मंगलदास को यह बहुत बुरा मालूम हुआ। लेकिन वह क्या कर सकता था। आखिर उसने खर्चे का बहाना किया। कहा कि, "महाराज, मैं तो इधर आपके पास रहता हूँ और कमाने की ओर से मैंने मुँह मोड़ लिया है। देखिये, नगर में जाकर किसी से कहूँगा।"

वैरागी सुनकर हँस दिया और बिना कुछ कहे मुड़कर नगर की तरफ़ चल दिया।

मंगलदास बड़ा खुश हुआ। क्योंकि इस समय नगरवासी तथा और कोई पास नहीं था और वैरागी के चलने पर हर क़दम पर जो अशर्फ़ी बनती सब वही उठाता और बटोरता जाता था।

क्रिया-कर्म के अनन्तर शिवालय पर आकर मंगलदास ने कहा, "महाराज, अब यहाँ से अन्यत्र पधारना चाहिए। यह नगर आपके योग्य नहीं रहा है।"

मंगलदास सोचता था—'यहीं रहकर मैं जायदाद बनवाऊँगा तो सब लोग ईर्ष्या करेंगे और कहेंगे कि यह रुपया इसने कहाँ से पाया? तब आखिर इन वैरागी को भेद मालूम हो जायगा। तब मेरे पास कुछ नहीं रह पायगा।' इसीलिए वह सोचता था—'यहाँ से दूसरी जगह जाकर मैं बड़ी हवेली बनवा लूँगा और एक कोठरी में इस वैरागी को जगह दे दूँगा। बस वहाँ श्रद्धालु जन आया करेंगे और भेंट-पूजा भी चढ़ावेंगे। ऐसे वैरागी से मुझको खूब आमदनी हुआ करेगी।'

मंगलदास के घर में उसकी स्त्री थी और माता थी। रुपये की बात उसने अपनी माँ को नहीं बतलाई थी। बस स्त्री को बतलाई थी। जब नगर वालों ने देखा कि मंगलदास वैरागी से किसी दूसरे को नहीं मिलने देता है तो उसके दुश्मन हो गए। उनकी कोशिश रहने लगी कि इसके घर में फूट पड़ जाय।

ऐसी सस्ती आमदनी की वजह से मंगलदास पहले से कन्जूस हो गया था। वह माता की बेक़दरी करता था। काम तो उसे खूब करना होता था, पर खाने को रूखा-सूखा ही मिलता था। नगर-वालों ने मंगलदास की माँ को कहा, "तुम्हारे बेटे को इस वक्त खूब मुफ्त की दौलत मिल रही है। तुम्हारे तो वारे-न्यारे हैं।"

माँ ने समझा—लोग हमारी ग़रीबी की हँसी उड़ाते हैं। उसने कहा, "भैया, ग़रीबी के दिन जैसे-तैसे हम लोग काटते हैं। हमारे पास धन कहाँ है? ग़रीब की हँसी नहीं करनी चाहिए।"

तब नगरवालों ने कहा, "मंगलदास तुम्हारे साथ धोखा करता है। उसने जरूर धन कहीं छिपा रखा है।"

होते-होते माँ को भी इस बात का विश्वास आ गया और वह अपने बेटे की बहू से झगड़ा करने लगी। नतीजा यह हुआ कि रोज कलह होता और घर में अशान्ति बनी रहती।

मंगलदास को अब इस नगर में रहने का बिलकुल चाव नहीं रह गया था। गाँव के लोग तो दुश्मन थे ही और घर में भी अनबन रहा करती थी। सो उसने वैरागी को बहुत कहा-सुना कि इस नगर को छोड़कर चलना चाहिए।

वैरागी ने कुछ नहीं कहा। वह नित्य प्रार्थना में लीन रहता था। और कोढ़िन की आत्मा के लिए शान्ति की दुआ किया करता था।

मंगलदास ने कहते-कहते जब वैरागी के लिए चैन का अवसर ही नहीं छोड़ा, तो वैरागी ने कहा, "तुम क्या चाहते हो?"

मंगलदास बोला, "यहाँ के लोग अब आपको धर्म-ध्यान नहीं करने देंगे। मैं जो आपकी सेवा में आ गया हूँ इससे वे मुझ से दुश्मनी रखने लगे हैं। इसलिए आप इस नगर से कहीं दूसरी जगह चलिये।"

वैरागी ने कहा, "तुम मेरे पीछे घर-गृहस्थी क्यों छोड़ रहे हो?"

मंगलदास, "महाराज, घर-गृहस्थी का बन्धन तो माया का बन्धन है। मुझे तो आपकी सेवा में सुख मिलता है।

वैरागी, "घर में तुम्हारे कौन-कौन हैं?"

मंगलदास, "माता है, स्त्री है।"

वैरागी, "उनको अकेला नहीं छोड़ना चाहिए। जाओ, उनकी चिन्ता करो। तुम्हारे पीछे उनका गुज़ारा नहीं तो कैसा होगा?"

मंगलदास, "महाराज यह कैसी बात करते हैं! गुज़ारा कौन किसका करता है। सब ईश्वर का दिया खाते हैं। आप ही की शिक्षा तो है कि सब का पालनहार वही है। यह तो अहंकार है कि मैं किसी का पालन कर सकता हूँ। मुझे अब संसार से मोह नहीं है। मैं तो आपके चरणों का सेवक होकर प्रसन्न हूँ।"

वैरागी सुनकर हँस दिया। बोला, "अच्छा समझो अपनी माता और पत्नी की सेवा भी मेरी ही सेवा है। यह समझकर जाओ, उन्हीं के पास रहो।"

वैरागी के ये वचन सुनकर मंगलदास को बड़ी निराशा हुई। उसके मन में तो महल बनने लगे थे। इन वचनों से उनकी बुनि-

याद ही खतम हुई जा रही है। मंगलदास ने वैरागी के चरण पकड़ लिए। कहा, "महाराज की मुझ पर अदया क्यों है ?"

वैरागी ने कहा, "अगर संसार की तृष्णा नहीं है, तो सेवा की भी तृष्णा नहीं होनी चाहिए। ईश्वर तो सब कहीं है। तुम्हारे घर में नहीं है और ईश्वर यहाँ इस कुटिया में ही है, अगर मानते ऐसा हो तो तुम्हारी बड़ी भूल है। मेरी सेवा तुम करना चाहते हो तो क्या बतला सकते हो कि क्यों चाहते हो ?"

मंगलदास, "महाराज, मुझे अपनी मुक्ति की इच्छा है। आपकी सेवा से मेरी मुक्ति का मार्ग खुल जायगा।"

वैरागी, "मुक्ति का मार्ग घर में रहकर अगर बन्द होगा तो उसे बन्द करने वाले तुम्हीं हो सकते हो। अन्यथा वह वहाँ भी खुला है। जाओ, मुझ को छोड़ो। मेरी सेवा अब भी तुम क्या कर सकते हो ? यह मेरा तन सेवा के लायक नहीं है। यह तन दूसरों के काम आ सके—इसीलिए मैं धारण किये हुए हूँ। अगर तुम इसमें मोह रखोगे तो मेरा अपकार करोगे।"

लेकिन मंगलदास भक्ति-भाव से उनके चरणों में नमस्कार करके कहने लगा, "महाराज, मुझ पर अदया न करें। मैं तुच्छ संसारी जीव हूँ। मुझे फिर वापिस संसार के नरक में आप न भेजें।"

वैरागी फिर हँसने लगे। बोले, "जैसी तुम्हारी इच्छा। लेकिन आगे हर कष्ट के लिए तुम्हें तय्यार रहना चाहिए।"

अगर साधु के पास से अशर्फियाँ बराबर मिलती जाया करें तो कष्ट की गिनती करने वाला मंगलदास नहीं था। वह जानता था कि एक बार कष्ट उठाकर अगर बहुत-सा धन हाथ आ जायगा तो जन्म-जन्म के संकट उसके दूर हो जायँगे। दुनिया में सोना ही

इज्जत है। सोने के सब हैं—स्त्री है, भाई है, बन्धु है, सगे-सम्बन्धी हैं। वह गाँठ में नहीं है तो कोई भी किसी को नहीं पूछता है।—यह सोचकर मंगलदास ने कह दिया, "महाराज, आपके साथ रहकर तो शूल भी मेरे लिए फूल हो जायँगे। मुझे इस जगत् में और किसी की इच्छा नहीं है। सन्त-समागम ही मेरे लिए परम सौभाग्य है।"

इतना कहने पर वैरागी उस नगर को छोड़ने को राजी हो गया। दोनों उस नगर से चल दिए। वहाँ से थोड़ी दूर चले होंगे कि साधु की काया बिगड़ने लगी। रास्ते में पानी की एक नहर पड़ती थी। साधु जी उसी नहर के किनारे पर बैठ गए। उन्होंने कहा, "मंगलदास, अब तो मुझ से चला नहीं जाता है। तुम लौट कर जाना चाहो तो अभी जा सकते हो। नहीं तो मेरे लिए यहीं कुछ व्यवस्था करनी होगी। मैं इस शरीर से अब आगे नहीं चल सकता।"

मंगलदास वैरागी से ज़रा पीछे रहकर उनके हरेक क़दम पर जो अशर्फ़ी बनती थी उठाता चला आ रहा था। इसलिए यह सुनकर भी वह वैरागी को अकेला नहीं छोड़ सकता था। उसने बड़ी खुशी के साथ कहा, "महाराज, यहाँ विश्राम कीजिये। मैं सब व्यवस्था किये देता हूँ।"

यह कहकर मंगलदास वापिस अपने घर लौट आया और वहाँ स्त्री को अपने साथ की अशर्फ़ियाँ सौंप दीं। कहा, "तुम मेरी चिन्ता न करना, जब तक उस बेवकूफ़ साधु के पास हूँ तब तक समझो कि हर दिन के हिसाब से सैंकड़ों रुपये मैं कमा रहा हूँ। लौटूँगा तो खूब धन भर कर लौटूँगा। समझीं! या नहीं तो यहीं किसी पास के बड़े नगर में हवेली चिनवा लूँगा और तुमको भी वहाँ

बुलवा लूँगा। तब हम दोनों राजसी ठाठ से रहेंगे!"

लौटकर मंगलदास वैरागी के पास पहुँचा तो हाँफ रहा था। उसने कहा, "महाराज, मैं आस-पास गाँव-गाँव घूम कर आया हूँ। लोग बड़े अश्रद्धालु हैं। साधुओं की महिमा नहीं जानते हैं। कहीं से कुछ भी सहायता मैं नहीं पा सका। चलिये। यहाँ से दो कोस पर एक गाँव है। वहाँ तक चले चलिये। वहाँ सब इन्तजाम हो जायगा।"

वैरागी ने कहा, "मुझ से अब नहीं चला जायगा। मैं इस पेड़ के नीचे ही रह जाऊँगा। तुम अब भी चाहो तो जा सकते हो।"

मंगलदास के मन में था कि आगे के गाँव तक पहुँचते-पहुँचते जाने कितनी अशर्फियाँ और हो जायँगी। लेकिन यह वैरागी पेड़ के नीचे बैठकर आराम से सो गया।

मंगलदास तब उठकर गया और गाँव में पहुँच कर वैरागी की बड़ी तारीफ़ की। बात का हुनर तो उसके पास था ही। थोड़ी देर में गाँव-वालों की सहायता से नहर के किनारे एक झोंपड़ी तैयार हो गई और श्रद्धा से भीगे हुए गाँव के दो-एक आदमी सेवा के लिए उत्सुक होकर वहाँ रहने लगे।

वैरागी की तबियत सम्भलती नहीं दीखी। उनको बार-बार कै होती थी और दस्त होते थे और वे कुछ खाते-पीते न थे। मंगलदास ने उन साधु की प्रशंसा में जो कुछ कहा था गाँव वालों ने वैसी कुछ भी महिमा इन साधु में नहीं देखी। इसलिए वे एक-एक कर उन्हें छोड़ कर चल दिये।

असल में मंगलदास किसी को साधु के बहुत निकट नहीं आने देना चाहता था। क्योंकि अगर साधु की असली महिमा का भेद

किसी को चल जाय तो इसमें मंगलदास को बहुत नुकसान था। इसलिए इस आशा में कि साधु कभी अच्छे होंगे, मंगलदास उनकी सेवा-टहल करने लगा। कै होती तो उसको अपने हाथों से साफ करता। इसी तरह और भी सब सेवाएँ करता। दिन-पर-दिन हो गए। साधु क्षीण होकर ठठरी की भाँति रह गया। लेकिन मंगलदास की आशा नहीं सूखी और वह साधु की सेवा से विमुख नहीं हुआ।

देखा गया कि वैरागी कमज़ोर होकर अब बहुत चिड़चिड़े हो गए हैं। ज़रा-ज़रा-सी बात पर मंगलदास को वह बहुत सख्त-सुस्त कहते हैं। कोई भूल हो जाती है तो बहुत डाटते-डपटते हैं। कहते हैं, "अभी तुम सामने से चले जाओ!" लेकिन मंगलदास सब दुर्वचन नम्रता के साथ स्वीकार करता है। उत्तर कुछ नहीं देता और सेवा में कोई त्रुटि नहीं आने देता।

मंगलदास की ऐसी एक-मन सेवा देखकर गाँव वालों पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा और वे साधु को छोड़कर मंगलदास की ही श्रद्धा करने लगे। वे उसकी बड़ी बड़ाई मानते थे और उसको अपनी श्रद्धा का तरह-तरह का उपहार देते थे।

जब उसकी अपनी बड़ाई होने लगी तब उसने सोचा कि यह तो नया रास्ता दौलत मिलने का हो रहा है। अब साधु का मैं साथ क्यों पकड़े रहूँ? यह सोच कर उसने साधु से अलग एक अपनी कुटिया बना ली और अधिक काल वहीं रहने लगा। देखते-देखते उसकी प्रशंसा आस-पास चारों तरफ फैल गई और लोग उसके दर्शन को आने लगे।

इधर बराबर की झोंपड़ी में वह वैरागी पड़ा ही था। अब भी मंगलदास रात को आकर उसकी शुश्रूषा किया करता था ताकि ऐसा

न हो कि कहीं यह वैरागी उठकर यहाँ से चल दे। लेकिन अब मंगलदास को यह ख्याल रहता था कि कहीं ये एकदम चंगे न हो जायँ कि उसके काबू से बाहर ही हो जायँ।

होते-होते वैरागी अकेले पड़ गए और मंगलदास की कुटिया श्रद्धालु लोगों से भरी रहने लगी।

अकेले पड़कर वैरागी की तबियत धीरे-धीरे ठीक होने लगी।

एक दिन बहुत सवेरे कुछ दर्शनार्थी लोग मंगलदास के पास आये कि रास्ते में क्या देखते हैं कि थोड़ी- थोड़ी दूर पर एक-एक अशर्फी पड़ी है। उनको बड़ा अचम्भा हुआ। उन्होंने सोचा कि जरूर इसमें कुछ मंगलदास की महिमा है। इसलिए आकर उन्होंने वे अशर्फियाँ मंगलदास के सामने रखीं और नमस्कार करके कहा कि—महाराज, आपकी ओर आते हुए रास्ते में ये अशर्फियां हमको मिलीं। जरूर आपके दर्शनों के पुण्य का यह प्रताप होगा। इससे ये आपकी भेंट हैं।

मंगलदास सुनकर कुछ नहीं बोला। उसका माथा ठनक गया। उसने जान लिया कि वैरागी यहाँ से कहीं चला गया है। इसलिए लोगों के चले जाने पर चुपचाप उसने वैरागी को ढूँढना शुरू किया। पर आस-पास की अशर्फियाँ उठ ही गई थीं। इससे उसे कोई सहारा खोजने का नहीं मिला।

तब अगले दिन सवेरे उसने गाँव वालों से कहा, "मैं कल मन्त्र का अभ्यास कर रहा था। उसके बाद जो हाथ में भस्म उठाई तो वह सोना बन गया। मालूम होता है वह जो बीमार वैरागी पास में रहता था रात को उन सोने के सिक्कों को चुरा कर भाग गया है। मैं तो सोचता था कि तुम लोगों को वे सिक्के बाँट दूँगा।

लेकिन वह वैरागी तुम लोगों का हिस्सा लेकर भाग गया है। उस को तलाश करना चाहिए।"

यह सुनकर गाँव-वाले बड़े उत्साह से उस साधु की खोज करने निकले। आखिर अशर्फियों के निशान से साधु को पा लेने में कठिनाई नहीं हुई। वह एक जगह पेड़ के नीचे जाकर सो गया था। गाँव-वाले उसको पकड़कर और बाँधकर मंगलदास के पास ले आये।

अब तक मंगलदास अपनी प्रतिष्ठा के बारे में निश्चिन्त हो गया। एकान्त पाकर उसने वैरागी से कहा, "देखो वैरागी, तुम मुझे बगैर साथ लिये अगर कहीं जाओगे तो जैसी तुम्हारी दुर्गति होगी; वह तुम जानते ही हो। मैंने कहा था कि मुझे तुम अपनी सेवा से अलग मत करो। अब तुम देखते हो कि अगर तुम मेरी उपेक्षा करते हो तो मेरी महिमा तुमसे कम नहीं है। देखो, गाँव वाले मुझको पूजते हैं और तुम्हारी इज्जत उनके मन में कुछ भी नहीं।"

वैरागी ने कहा, "मैं अब रोगी नहीं हूँ। कमजोर नहीं हूँ। अपना सब काम कर सकता हूँ। चल-फिर सकता हूँ। तब तुमको अपने साथ रखने का मुझको क्या अधिकार है? फिर अब तुमको मेरी आवश्यकता भी क्या है। धर्म का अभ्यास तुमको हो ही गया है। मालूम होता है सिद्धि भी तुमको मिल गई है। अब तुम्हारी लोग सेवा करने लगे हैं तो ठीक भी है। तुम्हें अब दूसरे की सेवा करने की चिन्ता क्यों होनी चाहिए?"

मंगलदास ने अपने आसन पर से ही बैठे-बैठे कहा, "नहीं वैरागी, मुझे अपनी इस मान-प्रतिष्ठा में कुछ भी रस नहीं है। ये तो सब जबरदस्ती मुझको देते हैं। मेरा मन कुछ तुम्हारी

प्रीति में भर गया है। देखो न, अपने ऊपर पाप का बोझ लेकर भी तुम्हें मैंने अपने पास पकड़ बुलवाया। अब बोलो, अगर मुझको साथ लेकर चलना चाहते हो तो मैं यहाँ की सब मान-पूजा को छोड़कर आज ही तुम्हारे साथ चल सकता हूँ।"

वैरागी ने कहा, "मेरा कोई आश्रय-स्थान नहीं है। क्या ठिकाना है कि मैं कहाँ भटकता फिरूँ। प्रभु का नाम ही मेरा सब कुछ है और मेरे पुराने पाप मुझे एक क्षण के लिए भी चैन नहीं लेने देते हैं। इसलिए मैं अपनी बे-ओर-छोर की भटकन में तुम्हें कहाँ साथ रखूँ? तुम जानते हो कभी मैं खाना पाता हूँ, कभी नहीं पाता। मुझे कोई कला नहीं आती। दीन-दुखियों में मेरा गला खुलता है। बड़े लोगों में मेरे मुँह से बोल भी नहीं निकलता है। देखो खुद ही दीन हूँ, दुखी हूँ। तुम खुद ही सोचो कि उन दीन-दुखी लोगों में जाकर मेरे से तुम्हें क्या आशा हो सकती है?"

इसी तरह वैरागी अपने सम्बन्ध में हीनता की बातें बहुत देर तक कहता रहा।

तब मंगलदास ने कहा, "वैरागी! इसकी चिन्ता न करो। जगत् में सोने की कीमत तुम जानते हो। वह एक मुट्ठी मैं तुम्हें दे दूँगा। उससे फिर तुम्हें कोई कष्ट नहीं होगा।"

वैरागी ने आश्चर्य से कहा, "तुम्हारे पास सोना है। तब तुम मेरे साथ क्यों रहते हो? मेरे साथ तो कुछ भी नहीं है।"

मंगलदास ने कहा, "मेरे पास सोना है, फिर भी जो मैं तुम्हारे साथ रहने को कहता हूँ, इसका मतलब यही है कि तुम्हारे पास सोने से बड़ी चीज़ है।"

वैरागी ने कहा, "तुम अगर कोई बड़ी चीज़ मानते हो और उस बड़ी चीज़ को चाहते हो तो फिर सोने को क्यों अपने पास

रखे हुए हो ? मुझको नहीं मालूम था कि तुम सोने को पास रखकर चलते हो।"

मंगलदास को यह सुनकर बड़ा अचम्भा हुआ। बोला, "ये सोने की मोहरें गाँव-वाले कल सवेरे मेरे पास डाल गए हैं। मैं इनका क्या करूँ ? दुनिया में जो कष्ट होता है वह अधिकतर इस सोने के अभाव से होता है। इसलिए कहता हूँ कि मुझको तो कोई कष्ट है नहीं। गाँव-वाले सभी-कुछ मुझे दे जाते हैं। लेकिन तुम पर मुझको दया आती है। तुम एकदम अनजान आदमी हो। क्या तुम समझते हो तुम्हारी किसी महिमा के कारण मैं तुम्हारे साथ रहना चाहता हूँ ? नहीं, मैं धर्मात्मा आदमी हूँ। मेरा हृदय कोमल है। तुम पर मुझे दया होती है। तुम एकदम निरीह मालूम होते हो। ईश्वर का आदेश है कि ग़रीब और असहाय पर दया करनी चाहिए। इसी वजह से मैं तुम्हारे साथ रहना चाहता हूँ कि जिससे तुम्हारी बीमारी में मैं तुम्हारे काम आऊँ और मुझे सन्तोष हो कि ईश्वर की आज्ञा के अनुसार मैं तुम जैसे असहाय प्राणी की मदद करता हूँ।"

वैरागी यह सुनकर मंगलदास का बड़ा कृतज्ञ हुआ।

उसने कहा, "मैं सचमुच बड़ा पापी हूँ। लो तुम जो मेरे साथ हुए तो मैं उसमें अपनी बड़ाई मानने लगा। मैं तुमसे अपने को मन-ही-मन में विशेष गिनता था। लेकिन अब तुमने मेरी आँखें खोल दी हैं। मैं तुम्हारा बड़ा उपकार मानता हूँ। अब मालूम होता है कि तुम सिर्फ दया-भाव से मेरे साथ थे। और यह तुम्हारी मुझ पर कृपा थी। दया की अब भी मैं तुमसे, जगत् से और ईश्वर से अपने लिए याचना करता हूँ। लेकिन मेरा तन इस योग्य नहीं है कि इसकी चिन्ता की जाय। जब तक चलता है, चलता है। एक

दिन तो इसको गिर ही जाना है। ईश्वर जब भी वह दिन लाये। इसलिए इसकी मुझको फ़िक्र नहीं है। घूमता, भटकता फिर कभी भाग्य हुआ तो मैं आपके दर्शन करने आऊँगा। अभी तो मुझको आगे चलने दीजिये।"

मंगलदास ने कहा, "वैरागी, तुम मेरी धर्म-भावना में बाधा डालने की कोशिश करते हो। मैं ईश्वर की आज्ञा का पालन कर रहा हूँ। तुम्हारी मुझको बिलकुल चिन्ता नहीं है। तुम्हारे जैसे बहुतेरे ढोंगी फिरते हैं। यह तो ईश्वर की मुझको आज्ञा है कि मैं तुम पर दया दिखाऊँ। इसी से मैं उस आज्ञा को टाल नहीं सकता, नहीं तो तुम्हीं सोचो कि मुझे यहीं भजन-प्रार्थना का सब सुभीता है। मैं उसे छोड़कर जाने वाला नहीं हूँ। इसीलिए सुनते हो वैरागी, अगर तुम भलमनसाहत से रहना चाहते हो तो बिना मुझसे अनुमति लिये और बिना मुझे साथ लिये कहीं मत जाना! नहीं तो तुम मेरी शक्ति को जानते हो। यहाँ गाँव-वालों को इशारा-भर करने की जरूरत है। तुम्हारा फिर कहीं पता तक नहीं मिलेगा।"

वैरागी की समझ में मंगलदास की बात बस इतनी ही आई कि मंगलदास ईश्वर की प्रार्थना का पालन करना चाहता है और उसमें मुझे बाधक नहीं बनना चाहिए। यह सोच कर वैरागी वहाँ रहने लग गया और मंगलदास की सेवा-शुश्रूषा करने लगा।

तब उस मंगलदास ने गाँव के एक जवान लड़के को एकान्त में अपने पास बुलाकर कहा कि, "देखो, वह हमारा चेला हो गया है। हमारी बड़ी भक्ति-श्रद्धा रखता है। इसलिए हमने उसको वरदान दिया है कि जब यह किसी शुद्ध प्रयोजन से कहीं जायगा तो इसके हर एक क़दम रखने पर एक-एक अशर्फ़ी बनती जायगी। देखी तुमने भक्ति की शक्ति! यह प्रताप तपस्या का है! अब तुम

एक काम करो। जहाँ कहीं वह जाय, उसके पीछे-पीछे जाया करो और अशर्फियाँ उठा लिया करो। कोशिश यह करना कि उसको या किसी और को पता न चले। बात यह है कि यदि उसको पता चलेगा तो उसमें अहंकार का उदय हो सकता है। अहंकार से फिर साधना नष्ट हो जाती है। इसलिए शिष्य का भला इसमें ही है कि उसको अपनी सफलता का पता न चले।"

गाँव का वह जवान, जिसका नाम सुमेर था, इस बात को सुनकर बहुत प्रभावित हुआ और बड़ा खुश हुआ। वह वैरागी के साथ रहता और रास्ते में जितनी मोहरें बनतीं सब उठा लेता। पहले रोज़ उसने सब मोहरें अपने गुरु जी को दे दीं। लेकिन एक बचाकर रख ली। सोचा, "अपने घर में माँ को दिखाऊँगा और देखकर वह अचरज में आँख फाड़ती रह जायगी। तब मुझे कितनी खुशी होगी। वह पूछेगी, कहाँ से आई ?"

मैं कुछ उत्तर नहीं दूँगा।

आखिर सोचेगी कि मैं कहीं से चुराकर तो नहीं ले आया ? लेकिन तब भी मैं उत्तर नहीं दूँगा। वह भला क्या जान सकती है। मुझे साक्षात् देवता-स्वरूप गुरु मिल गए हैं। तब भला सोने की मोहरों की क्या बात है।

लेकिन धीरे-धीरे सुमेर ने देखा कि गुरु जी पूरा-पूरा हिसाब लेते हैं कि, 'बताओ चेला कितनी दूर गया था, वह जगह कितने गज़ है, उसमें कितने कदम होंगे, इत्यादि।' इस तरह सोने की मोहर का महत्त्व सुमेर के दिल में बढ़ने लगा और गुरु जी का महत्त्व कुछ कम होने लगा। तब उसने कुछ मोहरें अपने पास रखनी शुरू कर दीं। उन्हें ले जाकर चुपके से एक घड़े के अन्दर छिपा देता था और किसी से नहीं कहता था।

एक रोज़ की बात है कि उसकी स्त्री ने घड़े में से सामान निकाला, तब मोहरें भी उसमें से निकलीं। यह देखकर खुशी के साथ उसे गुस्सा भी हुआ और उसने शाम को पति के आने पर खूब झगड़ा मचाया। कहने लगी कि तुम यों तो पैसे-पैसे के लिए मुझसे झूठ बोलते हो; मेरा हाथ तंग रहता है, कमाई में कुछ नहीं मिलता है, इस तरह के बहाने बनाते हो और यहाँ घर में मोहरें छिपा रखी हैं!

बात अड़ोस-पड़ोस वालों ने भी सुनी! अशर्फ़ी का नाम सुनकर लोग बड़े उत्सुक हुए और जब सुमेर ने कुछ नहीं बताया तो चोर समझकर मारने-पीटने लगे। तब उसने कहा, "मैं चोर नहीं हूँ। साधू जी ने मुझको ये मोहरें दी हैं।"

इससे गाँव के लोगों में मंगलदास का प्रताप और चढ़-बढ़ गया। वह बहुत सादे ढंग से रहता था। इतना धन होकर भी सादगी से रहना कम बात नहीं है। सच्चे त्यागी पुरुष ही ऐसे रहा करते हैं। यह सोचकर गाँव-वालों की भक्ति सन्त मंगलदास में और भी गहरी हो गई।

उधर वह बेचारा वैरागी जंगल से लकड़ी चुन कर लाता। कण्डे बीनता और उनसे भोजन बनाता और साधु की हर तरह की टहल-चाकरी करता।

लेकिन धीमे-धीमे उसको इस बात का बड़ा अचरज होता जाता था कि मेरे साथ साधु जी का आदमी क्यों चलता है? उसने सोचा कि मेरे काम में कुछ त्रुटि रहती होगी। इसीलिए साधु जी दया-भाव के कारण आदमी को मेरे साथ भेजते हैं।

लेकिन जब भेद खुल गया तब सुमेर के लिए मौन बने रहने का कारण भी नहीं रह गया। गुरु जी में उसकी श्रद्धा बराबर कम

होती जा रही थी। इसलिए अपने एक बचपन के साथी चन्दन से उसने सच्ची-सच्ची बात कह दी। तब चन्दन भी उस वैरागी के पीछे सुमेर के साथ रहने लगा। अब वे दोनों जितनी अशर्फ़ियाँ बनतीं उनमें से नाम के लिए कुछ गुरु जी को दे देते थे, बाकी सब अपने पास रख लेते थे।

सुमेर और चन्दन दोनों ही उस वैरागी को बुद्धू मानते थे। लेकिन जब कई दिन हो गये और दोनों ने चुपके-चुपके काफ़ी मुहरें अपने पास जमा कर लीं, तब उनको उस वैरागी पर बड़ी दया आई। एक दिन जंगल में रोक कर उन्होंने उस वैरागी से कहा, "वैरागी, ये लो मोहरें लो। ये तुम्हारी हैं।"

वैरागी सुनकर सन्न खड़ा रह गया, जैसे कि उस पर बिजली गिरी हो। उसने कहा, "बाबा, मेरा सोने से क्या काम है?"

चन्दन ने कहा, "वैरागी, हम सच कहते हैं। ये हमारी अशर्फ़ियाँ नहीं हैं, तुम्हारी हैं।"

वैरागी ने कहा, "बाबा, वैरागी से ऐसी हँसी नहीं करनी चाहिए। सोने से मन पर मैल चढ़ता है।"

चन्दन ने कहा, "वैरागी, तुम हमें रोज ही तो देखते होगे; हम तुम्हारे पीछे-पीछे चलते हैं। बताओ, भला क्यों? भेद यह है कि तुम जहाँ पैर रखते हो वहीं एक मोहर बन जाती है। उसी लालच में हम तुम्हारे पीछे-पीछे चला करते हैं। हमने इस तरह बहुत-सी मोहरें जमा कर ली हैं। यह एक तरह हमने चोरी ही की है। लेकिन तुम्हारी दीनता देखकर हमको अब शरम आती है। ये लो, हम सच कहते हैं, ये तुम्हारी हैं। इनको रखो और अपनी हालत सुधारो, सम्भालो। तुम किसलिए इतनी कड़ी मेहनत करते हो और दिन-रात उस साधु की सेवा में रहते हो?"

वैरागी सोने की मोहरों की बात सुनकर और उन्हें सामने देखकर हैरत में रह गया था। उसको कुछ जवाब नहीं सूझा।

चन्दन ने कहा, "वैरागी, तू हमारी बात झूठी मानता है। लेकिन हम सच कहते हैं।"

थोड़ी देर वैरागी गुम-सुम खड़ा रहा। लेकिन फिर वहीं एकदम गिर कर हाथों में मुँह लेकर रोने लगा।

सुमेर और चन्दन वैरागी की यह हालत देखकर अचकचा गए। उनकी कुछ समझ में नहीं आया कि क्या करें।

वैरागी ने कुछ देर बाद ऊपर को मुँह उठाकर आसमान में देखते हुए रोकर प्रार्थना की, "हे ईश्वर, हे मालिक, अब यह सजा तुम मुझे किस पाप की देते हो? सोने को मेरे तन और मन से कब बिलकुल छुड़ा दोगे? यह मैं क्या देखता हूँ, कि अब भी सोने से मेरा पीछा छूटा नहीं है। भगवन्, क्या तुम चाहते हो कि मैं यहीं जान दे दूँ? नहीं तो अब से कभी सोने की बात मेरे साथ लगी हुई मुझे नहीं सुनाई देनी चाहिए।"

इस तरह वह कुछ देर प्रार्थना करता रहा। फिर चन्दन और सुमेर के साथ वापिस चल दिया।

चन्दन और सुमेर ने देखा कि अब वैरागी के चलने पर मोहरें नहीं बनती हैं; बल्कि एक सचमुच का फूल बन जाता है जो गुलाबी रंग का होता है, नन्हे हृदय के आकार का।

मंगलदास के डेरे पर पहुँच कर इस बार सुमेर ने एक भी मोहर अपने गुरु को नहीं दी। कहा, "अब वैरागी के चलने पर अशर्फी नहीं बनती हैं।"

मंगलदास यह सुनकर नाराज हो गया और दुर्वचन कहने लगा। इस पर चन्दन और सुमेर दोनों ही बिगड़ गए और वे

भी साधु से सवाल-जवाब करने लगे। सुनकर वैरागी वहाँ आया। उस वक्त मंगलदास ने बात का ढंग बदल कर कहा, "वैरागी, ये दोनों लड़के तुम्हारी रोज़ चोरी किया करते थे और मैं इनको रोज़ समझाता था कि वैरागी की चीज़ वैरागी को भी देनी चाहिए। लेकिन ये बड़े धूर्त हैं। तुम को अब तक इन्होंने नहीं बतलाया कि तुम्हारी वजह से कितना सोना इन्होंने पा लिया है। लाओ रे लड़को, जितनी अशर्फियाँ तुम्हारे पास हैं सब यहाँ रखो। नहीं तो चोर कहलाओगे!" सुमेर तो इस पर लाजवाब-सा रह गया। लेकिन चन्दन ने कहा, "गुरुजी, अपना भला चाहो तो बदज़ुबानी मत करो। मैं सुमेर नहीं हूँ और तुम्हारा गुरुपन भी नहीं समझता हूँ। इन बेचारे सीधे वैरागी की बदौलत ही तुम चैन कर रहे हो। मैं अब सब समझ गया हूँ। अपनी खैर चाहो तो चुप रहो। नहीं तो अभी गाँव-वालों को बता दूँगा और तुम्हारी वह दुर्गति होगी कि याद रखोगे!"

इस बात के बीच में वैरागी खड़ा हुआ ईश्वर से प्रार्थना कर रहा था कि हे भगवन्, मुझ पर दया कर, मुझे क्षमा कर!

मंगलदास उस वक्त तो अपनी फ़जीहत को पी गया; लेकिन रात को जब अकेला रहा तब उसने वैरागी से कहा कि सब कुकर्म की जड़ तुम हो! बोलो, अब तुम्हारा क्या किया जाय?

वैरागी सचमुच सब दोष अपना ही मान रहा था उसने कहा कि आप मुझ पर अब तक दया-भाव ही रखते रहे हैं। अब भी दया करें और मेरी सज़ा का निर्णय आप ही करें। सचमुच दोष मैं अपना मानता हूँ कि अब तक भी मेरे कारण सिक्का इस जगत् में चलता और बढ़ता रहा।

मंगलदास ने कहा, "अब तक का क्या मतलब?"

वैरागी, "जब से मुझे मालूम हुआ है, मैंने भगवान् से प्रार्थना की है और मेरा यह अभिशाप प्रभु ने कृपा-पूर्वक दूर कर दिया है। अब मुझ से स्वर्ण का सम्बन्ध नहीं रहेगा।"

मंगलदास ने गुस्से में कहा, "क्या ?"

वैरागी ने कहा, "आपको आगे मुझ पर रोष करने के लिए कोई कारण न होगा।"

मंगलदास को बड़ा गुस्सा आ रहा था। उसने हिसाब लगा रखा था कि दो वर्ष के अन्दर वह कम-से-कम आस-पास में तो सबसे बड़ा धनी हो ही जायगा। लेकिन यहाँ तो अभी मेरी सोने की खान खतम हुई जा रही है। उसने गुस्से में भरकर कहा कि वैरागी, तुमको हया-शर्म नहीं है। मैंने कितने दिन तुम्हें साथ रखा। अब आज तुम मुझे इस तरह धोखा देना चाहते हो। तुम्हारा क्या इरादा है ? क्या तुम यहाँ से चले जाओगे ? याद रखो, मैं तुम्हें नहीं जाने दूँगा !

वैरागी ने कहा, "अब आप क्या आज्ञा देना चाहते हैं कि मुझे क्या करना चाहिए ?"

मंगलदास विद्वान् पंडित भी था। उसने कहा, "प्रार्थना करो कि ईश्वर फिर वैसे ही हर क़दम पर तुम्हारे अशर्फ़ी पैदा किया करे। तुम मूर्ख हो और कुछ नहीं जानते हो। अगर तुम मुक्ति चाहते हो तो यह तुम्हारा स्वार्थ है। तुम इतनी जल्द मुक्त हो जाना चाहते हो। देखो, मैं तुम्हें धर्म बताता हूँ। अपने से स्वर्ण पैदा होने दो। उस स्वर्ण से दुनिया का काम निकलता है। दुनिया की रगों में उससे तेज़ी आती है। तुम को स्वर्ण में लगाव नहीं है, बस इतना काफ़ी है। तुम उससे कुछ लगाव न रखो। लेकिन सच्चा धर्मात्मा दूसरे की आत्मा का ठेका नहीं लिया करता है। इसलिए

अगर तुम सच्चे धार्मिक हो तो यह ज़िद तुम कभी नहीं रख सकते कि दूसरे आदमी तुम्हारी ही भावना रखें और सोने को लेकर लाभ न उठावें। तुमको यह जानने की आवश्यकता है कि किस प्रकार सृष्टि में स्वर्ण तृष्णा पैदा करता है। तृष्णा में चैतन्य होता है। चैतन्य द्वारा ही ईश्वर की पूजा हो सकती है। जगत् में जो कुछ लहलहाता हुआ दीखता है—स्त्री की सेवा, बालक की क्रीड़ा और बड़ों का वात्सल्य—वह सब उसी अमृत के सिंचन से है। स्वर्ण-माता लक्ष्मी का प्रसाद है। बड़े कारोबार चल रहे हैं, सरकारें चल रही हैं, उद्धार चल रहा है, सुधार चल रहा है, जातियाँ चल रही हैं, धर्म चल रहा है। जानते हो, किस मन्त्र से? लक्ष्मी के स्वर्ण-मन्त्र से ही वह सब हो रहा है। देखो वैरागी, समझ से काम लो। तुम्हें कुछ नहीं करना है। तुम भक्ति में रहे जाओ। बाकी झंझट मैं भुगतता रहूँगा।"

मङ्गलदास ने अपनी बात ख़तम करते हुए कहा, "सुना तुमने? अब तुम तय कर लो अगर तुम अपनी बात पर अड़े रहे तो वैसा होगा। तुम ईश्वर के पास जाना चाहते हो न? तो अच्छी बात है। मौत के हाथों देकर मैं यम देवता से कह दूँगा कि इसको ईश्वर के पास ले जाओ और मेरा कहा करोगे तो तुम भक्ति और सुख सब पाओगे। कोई तुम्हें कमी न रहेगी और मुझे माला-माल करने के पुण्य के भी तुम भागी होगे।"

वैरागी सब सुनता हुआ मन में कह रहा था, "हे भगवान्, तुम्हीं हो। पापी भी तुम्हीं में होकर है।"

मङ्गलदास ने पूछा, "बोलो क्या कहते हो?"

वैरागी मन में कह रहा था, "पाप को अपनी क्षमा में सहने वाले

हे प्रभु, पापी को अपनी दया में ही रखना। क्योंकि वह नहीं जानता है।"

वैरागी को चुप देखकर जोर से मङ्गलदास ने कहा, "क्यों वैरागी, नहीं सुनते ?"

वैरागी अपनी प्रार्थना में लीन था। वह कह रहा था, "हे मेरे प्रभु, इस पर भी अपनी अनुकम्पा रखना; क्योंकि वह अपनी तृष्णा के कारण अबोध बना हुआ है।"

वैरागी को बराबर चुप देखकर मङ्गलदास को क्रोध चढ़ आया। उठकर उसने एक जोर से उसे थप्पड़ दिया और फिर लात-घूँसों से भी खूब मारा।

अन्त में बोला, "अब तो समझे, ओ वैरागी !"

पर वैरागी तो अपने मन में कह रहा था, "प्रभु, सब में तुम्हीं हो। तुम्हीं हो। तुम्हीं हो !"

मार के कारण वैरागी को चोट तो आई, पर बहुत नहीं आई। इसमें दोष वैरागी का नहीं था। असल में मङ्गलदास के मन में समझदारी के कारण कुछ त्रुटि रह गई थी। मङ्गलदास बुद्धिमान् था। उसने सोचा—सोने का अण्डा देने वाली मुर्गी को मारकर कहानी-वाले आदमी ने कुछ नहीं पाया था। इसलिए वैरागी को मारकर बे-काम या ख़त्म कर दूँगा तो इससे तो मेरा ही काम बिगड़ेगा। यह मूर्खता मुझे नहीं करनी चाहिए।

अगले सबेरे गाँव-वाले वहाँ आये। आये तो उनका और ही रङ्ग-ढङ्ग दिखाई दिया। आते ही जो मुँह पर आया उन्होंने बकना शुरू किया और झोंपड़ी की सब चीजें बिखेर डालीं। उस समय वहाँ बाबा की गद्दी के नीचे से कितनी ही अशर्फियाँ निकलीं।

गाँव-वालों ने अशर्फ़ियों पर हाथ डालने से पहले उस साधु की मरम्मत बनाई।

उधर वह वैरागी अलग खड़ा होकर ऊपर आसमान में निगाह जमाकर कह रहा था, "हे भगवन् ! हे भगवन् !"

वह प्रार्थना कर रहा था, "अनेकानेक अनर्थों का मूल यह स्वर्ण कहाँ मुझ में आ गया ! हे भगवन्, मुझको ऐसा कठोर दण्ड तुमने क्यों दिया ?"

मङ्गलदास को आगे बढ़कर शिक्षा और दण्ड देने के काम में चन्दन प्रमुख था। चन्दन की सीख में आकर लोगों ने यह भी तय किया था कि जितना सोना उस गुरु के पास से मिलेगा वह सब बेचारे वैरागी को सौंप दिया जाना चाहिए। गाँव-वाले यह तय करके आये थे। लेकिन जब मङ्गलदास से निपटकर लोग अशर्फ़ियों के ढेर को सम्मानपूर्वक वैरागी को समर्पण करने के विचार से चले तो क्या देखते हैं कि वहाँ तो एक भी अशर्फ़ी नहीं है, बल्कि गुलाबी फूलों का एक सरोवर-सा लहलहा रहा है ! वे गुलाबी फूल हृदय के आकार के हैं और मानो मुकुलित होने की बाट देख रहे हैं !

जब गाँव-वालों ने यह देखा तो उनको अचरज हुआ और वैरागी में उन्हें सच्ची भक्ति हो गई।

पर वैरागी ने कहा, "तुम लोगों ने जिस दोष के लिए उस बिचारे साधु को बाँधकर डाल दिया है उस दोष का तो अब मूल ही न रह गया इसलिए तुम्हें चाहिए कि अब जाकर तुम उन्हें खोल दो।"

चन्दन ने कहा, "वह आदमी चालाक है, ढोंगी है।"

वैरागी ने कहा, "जिस चीज़ के लिए हम सब चालाक और

ढोंगी बनने को तैयार हो जाते हैं वह चीज़ अब यहाँ कहाँ है? इसलिए वह अब किस वजह से छली या ढोंगी बनेंगे। यों तो हम में से कौन समय पर ढोंग और चालाकी नहीं कर जाता है। जाओ, उसको खोल दो।"

वैरागी के कारण अनमने मन से गाँव वाले गये और मङ्गलदास के बन्धन खोल दिये।

मङ्गलदास पर इसका बहुत असर हुआ और वह वैरागी के चरणों में गिरकर माफ़ी माँगने लगा।

फिर गाँव-वालों ने मिलकर अपनी श्रद्धा की मेहनत से वहाँ पक्के घाट का तालाब तैयार किया और अनगिनती कमल के फूलों से लाल-लाल वह लाल सरोवर अब भी उस जगह लहरा रहा है।

उपलब्धि

श्री जिनराजदास की अवस्था लगभग पचपन वर्ष की हो आई, लड़का ओहदा पाकर उनसे निरपेक्ष हो गया और कन्या माता बनकर अपने घर की हो गई। तब उन्हें जैसे एकाएक ज्ञात हुआ कि जिन बिन्दुओं को दृष्टि में लक्षरूप रखकर ज़िन्दगी में वह अब तक बढ़ते चले आए हैं, वे स्वयं भ्रम में थे और शून्य में खो गए हैं। छुटपन में विद्या में और परीक्षा में, उसके बाद क्रमशः स्त्री में, धन में, प्रतिष्ठा में और प्रभुता में उन्हें लगन होती चली गई थी। पर अब जैसे एकाएक यह-सब सूना, सब व्यर्थ होने लगा है। उपार्जित ज्ञान अज्ञान लगता है! स्त्री बेड़ी, धन परिग्रह, प्रतिष्ठा माया और प्रभुत्व अहंकार जान पड़ता है। अब तक संसार घर लगता था, अब एकाएक वही परदेश-सा दूर और पराया मालूम होता है। जैसे यहाँ के नाते-रिश्ते झूँठे हों और असल घर और कहीं हो।

जिन-जिन वस्तुओं को कभी बड़ी लगन से चाहा और बड़े प्रयत्न से प्राप्त किया था अब उन्हीं से उकताहट-सी होती है। लगता है कि ये पचास-पचपन वर्ष-जितने जीवन के उस अनन्त

पारावार में बिन्दु जितने भी तो नहीं हैं, जिसका किनारा मेरी मृत्यु से आरम्भ हो जायगा। मृत्यु के उस पार क्या है, मालूम नहीं। पर केवल 'न'-कार वह अवश्य नहीं है। फिर जो भी वह है, अपरिमेय है, असीम है।

संक्षेप में जिनराजदास का मन विह्वल है। एक गहरी विरक्ति वहाँ बसती जा रही है। यहाँ के आरम्भ-समारम्भ अब उनके मन को घेर नहीं पाते हैं। छूट-छूट कर यह मन यहाँ के घेरे से बाहर की ओर भागता है।

इसलिए उन्होंने अपनी उपाधि को लौटा दिया, वस्त्र सादा कर लिया, पलँग छोड़, सोने के लिए तख्त अपनाया और हर सप्ताह एक रोज मौन और अनशन से रहना शुरू किया। इस परिवर्तन के सम्बन्ध में उन्होंने किसी से सलाह नहीं ली। उनके परिचित जनों ने स्वभावतः माना कि यह भी एक बुद्धि-विलास है।

जिनराजदास के जीवन का आस-पास बड़ा प्रभाव था। वह सफल पुरुष थे। उनकी कर्मण्यता उदाहरणीय गिनी जाती थी। उनका निःशंक आत्म-विश्वास लोगों को आतंक में डाल देता था। निःसन्देह अदम्य उत्साह से भरे, लोगों को ठेलते और विघ्न-बाधाओं को कुचलते हुए अपने संकल्प में स्थिर जिनराजदास अब तक सब कुछ पाते और बनाते चले आए हैं। राह में कहीं कच्चे नहीं पड़े। और जो चाहा उसे अप्राप्त नहीं छोड़ा।

पर सुई जैसा बारीक काँटा इस उम्र में उन्हें आ चुभा है। उस छिद्र की तनिक-सी अभिसन्धि में से हवा तेजी से निकली जा रही है—बैलून अब नीचे आए बिना न रहेगा। अब वह निष्क्रिय सशङ्क और सय के बीच होकर एकाकी पड़े जा रहे हैं। उन्हें नहीं आवश्यकता हुई थी किसी अपरतत्त्व की स्वीकृति की, यह दुनिया

और उसमें सामने दीखने-वाली सिद्धि उनके निकट सब-कुछ रही थी। पर आज समस्त मन-प्राण की भूख के जोर से उनमें एक जिज्ञासा दहक उठी है, जो किसी भी तरह इन्द्रियों से प्राप्त होनेवाले पदार्थ-जगत् से शान्त नहीं हो पाती। उन्हें गम्भीर पीड़ा है। उसमें मानों लौट कर फिर वह शिशु से अबोध होते जा रहे हैं। मिट्टी के खिलौने के लिए जैसे बच्चा रत्नाभरणों को फेंक सकता है, वैसे ही मन की शान्ति (जो वहक नहीं तो बताइए क्या है ?) के लिए यह वृद्ध जिनराजदास अपनी सारी धन-दौलत फेंकने को तैयार दीख पड़ते हैं।

ऐसे लक्षण देखकर समझदार लोगों ने उनके बेटे श्रीवरदास को जतलाया कि परिवार का भविष्य उनके हाथ है। पिता तो अपना कर्त्तव्य कर चुके। अब पुत्र को सचेत रहना है। पर पुत्र पहले से सावधान थे और जायदाद उनके नाम हो चुकी थी।

यह बात यों हुई थी—

जिनराजदास ने पुत्र को बुलाकर एक रोज कहा, "श्रीवर, अब सब तुम सम्हालो, मुझे छुट्टी दो।"

श्रीवरदास, "पिता जी आपकी कृपा से में स्वयं समर्थ हूँ। किसी परोपकार में अपनी सम्पत्ति लगाना चाहें तो मेरी ओर की चिन्ता को बाधा न बनने दें।"

जिनराजदास, "नहीं भाई, धन से उपकार होता है, यह मेरा विचार अब नहीं रहा।"

श्रीवर, "तो मेरे लिए यह सब क्यों छोड़ जाएँगे ?

जिनवर, "क्योंकि तुम्हारे निमित्त से सब जुड़ा था। वह तुम्हारा है। देना न देना भी तुम्हारे हाथ है।"

उसी समय पुत्र के पीठ पीछे श्रीवर की माँ ने उनसे कहा,

यह क्या कर रहे हो ? मैं बहू के दान पर रहूँगी ? यह कोठी भी श्रीवर के नाम क्यों किए दे रहे हो ? जानते नहीं, वह बहू के हाथ में है। तुम्हें हो क्या रहा है, मुझे भी अपने से पराया बना दे रहे हो न ?"

जिनराजदास ने गम्भीरता से कहा, "तुम क्या चाहती हो ?"

पत्नी बोली, "मुझसे तो बहू की हुकूमत में नहीं रहा जायगा ?"

"चाहती क्या हो ?"

"तुम्हारे पीछे परवश होकर रहूँ, यह तुम चाहते हो तो वैसी कहो !"

"पर अभी तो मैं हूँ।"

"हाँ, हो, पर देखती हूँ कि तुम होकर भी नहीं हो, क्या जानती थी कि बुढ़ापे में यह दिन देखूँगी।"

"धन चाहती हो ?

"तुम अगर मेरे नहीं रहोगे तो धन बिना मेरे लिए कुछ और क्या रह जायगा ?"

सुनकर जिनराजदास कुछ देर चुप रहे, अनन्तर बोले, "देखो शुभे भूल न करना, मैं अब तक स्वार्थ के लिए नहीं रहा, तुम्हें जरूर अपने लिए मानता रहा। इस बारे में मुझे मुफ्त का पुण्य देने की बात कहीं मन में भी मत लाना, नहीं तो वही बोझ मुझे पाताल ले जायगा। सुनो, अब उसी तरह के एक गहरे स्वार्थ की बात दिखाई दी है, जो अब तक नहीं दीखी थी। वह स्वार्थ इतना गहरा है कि उसके बारे में भूल हो सकती है। इसमें तुमको भी मैं अपने लिए नहीं मान सकता। शंका में न पड़ो। जाने का दिन आवेगा तब—लेकिन तब तक तो मैं हूँ ही।"

पति की ऐसी बातें सुनकर पत्नी ने रही-सही आस छोड़ दी।

तबसे वह मानने लगी कि श्रीवर के हाथ में ही रुपया-पैसा और मकान-जमीन का इन्तजाम आ जावे तो अच्छा है। इनका तो उतना भी भरोसा नहीं है।

इस भाँति पास और दूर जिनराजदास के लिए सहानुभूति की धारा सूखती जा रही थी। पहले जिनराजदास को पूछने वाले सब थे। लेकिन यह जिनराजदास जो आप ही निरीह होते जा रहे हैं, नाहक जिन्होंने जाने क्या सरदर्द मोल ले लिया है। जिनराज-दास के लिए औरों के मन में एक उदासीन करुणा के सिवाय और हो क्या सकता है?

बात भी सच थी। पहले यह जानते थे कि सब-कुछ जानते हैं। अनेक सार्वजनिक संस्थाओं के अध्यक्ष थे। भाषण करते तो अमित आत्म-विश्वास के साथ। वह एक ही साथ धर्म और व्यव-हार के मर्मज्ञ माने जाते थे। उनके व्यवहार में एक शालीनता और निःशङ्कता थी, पर अब यह बात बीत गई। अब ज्ञान की जगह उनमें जिज्ञासा है। धर्म के पण्डित होने की बजाय अब वह मुमुक्षु हैं। उनकी प्रगल्भता मौन में शान्त हो गई है। सार्वजनिक सम्मान और प्रतिष्ठा में रस लेने की जगह अब वह एकान्त में प्रायश्चित्त की प्रतारणा से अपना तिरस्कार करने में रस पाते हैं। पहले प्रार्थी, पुस्तकें, पण्डित और पञ्च उन्हें घेरे रहते थे, अब चेष्टापूर्वक निर्जन-शून्य से घिरे रहते हैं। सार्वजनिकता में से उन्होंने अपने को खींच लिया है और जो लोग भूले-भटके पास आ भी जाते हैं, उनके आगे वह सहसा कातर हो आते हैं।

हम क्या कहें! कौन जाने यह अवस्था की क्षीणता ही हो। भावुकता का अतिरेक बार्धक्य का कारण हो। प्राण-शक्ति की कमी के कारण ही आत्म-विश्वास उनका जाता रहा हो, इसीलिए धार्मि-

कता यानी आत्म-दमन के लक्षण उनमें प्रकट हो चले हों। यह जो हो; पचपन वर्ष के लगभग आयु होने पर जिनराजदास में यह परिवर्तन आ चले—हम इतना ही जानते हैं।

: २ :

साप्ताहिक अनशन और मौन से, तख्त पर सोने, मोटा खाने और मोटा पहनने से अन्दर की बेचैनी उनकी जा न सकी। बल्कि भीतर जो शंका जगी थी वह और भी गहरी पहुँच कर उनके अन्तरंग को कुरेदने लगी।

ऐसा कितना हो काल बीता। वर्ष से ऊपर हो गया। इस बीच जो भीतर स्थिर था, उखड़-पुखड़ कर नष्ट होने लगा।

अन्दर व्यथा कुछ इतनी गहरी होती गई कि पूर्वोपार्जित सब धारणाएँ उसकी पीड़ा में आकर खोकर लुप्त हो चलीं। आग में जो पड़ता है, भस्म हो जाता है। कुछ उसी तरह की आग उनके भीतर लपटें देकर इस सारे काल दहकती रही। सोचा था, जगत्-व्यापारों से अपने को शून्य करके शान्ति पावेंगे, पर वैसा कुछ न हुआ। चिनगारी ज्वाला बन दहकी। अब बीच में रुकना कहाँ था। पूरी तरह जल चुके बिना शान्ति न थी।

ऐसी अवस्था में एक दिन पत्नी को और लड़के-लड़की को बुला कर जिनराजदास ने कहा, "समय आ गया है। अब मैं जाऊँगा।"

तख्त पर चटाई डाले स्वस्थ और स्थिर अपने पिता को इस समय वे तीनों नहीं समझ सके। तब भी इनकी बात को कान तक लेकर हठात् बोले, "कहाँ जाएँगे ?"

"कहाँ जाऊँ, यह अच्छी तरह मालूम करके चलूँ तो जाने का

लाभ मुझे क्या होगा ! कहाँ नहीं, कहाँ से जाऊँगा, यही बतला सकता हूँ और यही काफी है। यहाँ से जाऊँगा।"

उन तीनों ने उनका आशय समझा तो कहा, "जिस तीर्थ-स्थान में कहिए कुटिया बनवा दी जाय। सेवकों का प्रबन्ध हो जायगा। आप धर्म-स्थान में रहिएगा।"

बोले, "नहीं, तुम नहीं समझे। इसमें तम्हारा दोष नहीं है। कोठी और सेवक जो मेरे साथ बाँधे रखना चाहते हो, इसमें भी तुम्हारी भावना का नहीं, संस्कार का दोष है। सुनो, कह नहीं सकता कहाँ वह बूँद मिलेगी जिससे प्यास बुझे। प्यास से मैं परेशान सा हूँ। बहुत त्रास है। अब वह सहा नहीं जाता। उसी बूँद की खोज में निकल पड़ना है।"

बालक पिता को देखते रह गए। कम-अधिक चालीस वर्ष जिस ने साथ बिताए हैं वह पत्नी भी इन स्वामी को देखती रह गई। किसी तरह का कुछ भी नहीं समझ सकी।

सब बालकों ने कहा, "अब उम्र आई है कि हम कुछ समर्थ हुए हैं। अब तक आप को कष्ट ही दिया है। अब समय है कि आपकी सेवा से अपने को धन्य करें। वह अवसर न देकर हमें कृतघ्न बने रहने को क्या लाचार कर जाएँगा ?"

"तुम ठीक कहते हो। लेकिन पिता का कोई पिता है, यह क्यों भूलते हो। वह सब का पिता है। अब तक उसे भूले रहा, क्या यही पछतावा मेरे लिए काफी नहीं रहने दोगे ? ", इन बचे-खुचे दिनों को उनकी आँखों से बचाकर मैं उनके काम में नहीं ला सकूँगा। और अब उनके नाम से दूसरा मेरा काम क्या है।"

पुत्र ने कहा, "यह आप कैसी बातें कर रहे हैं, पिता जी ?"

"तुम्हारी हैरानी ठीक है, श्रीवर। तुम से आज मैं बुद्धि की

बात नहीं कर सकता। मेरी बुद्धि खो गई। वह डूब गई। हाँ, मैंने ही तुम्हें अब तक विज्ञान सिखाया हैं। मैंने कहा है कि वैज्ञानिक बुद्धि रखो। अब भी कहता हूँ। अपनी वल्दियत भगवान् को लिखाने चल पड़ा हूँ, यह मत समझना। लेकिन दिन आयगा कि तुम भी समझोगे। तुम अपने को संसार को देना चाहोगे और पाओगे कि नहीं दे पाते हो। तब तुम अपने आप को लेकर बेचैन हो उठोगे कि कहाँ जाकर किस की गोद में उसे उड़ेलो। तब भगवान् की गोद ही तुम्हारे लिए रह जायगी। पर ये दिन मेरे भगवान् से छीन कर तुम मुझ से ही छीन लोगे। ये तो मालिक के हैं। वह सब का मालिक है और उसे खोज निकालने के लिए सब हैं। नहीं समझे? जाने दो, छोड़ो।"

उस समय बात ऐसे बल पर आ गई थी कि शब्द बेकाम थे। वृद्ध के अन्दर की अमोघता शब्दों के पार होकर उन तीनों ने पहचानी। उसके आगे नत ही हुआ जा सकता है, और कुछ सम्भव ही नहीं है। तीनों सुन कर चुप हो रहे।

सहसा उस अवसन्नता को भंग कर के पिता ने युवकों को कहा, "तुम जा सकते हो।"

उनके जाने पर तनिक ठहर कर पत्नी से कहा, "बताओ अब मुझे क्या करना है?"

"मुझे छोड़ जाओगे?"

"साथ कोई गया है?"

"तुम मुझे धन देना चाहते हो। मुझे नहीं चाहिए।"

"नहीं चाहिए तो अच्छा है। पर मैं जानता हूँ कि चाहिए।"

"मेरा अपमान न करो।"

"धन होने पर किसी क्षण फेंका तो वह जा सकता है।"

"नहीं, मुझे क्षमा करो !"

"सुनो, उस रोज धन की आवश्यकता प्रकट करके यह न मानना कि तुमने भूल की। मन की बात के मुँह पर आने में भूल नहीं है। दुनिया में इतना कहकर क्या सच-मुच तुम यह सीखी हो कि धन व्यर्थ है ? नहीं ! तुम इतनी समर्थ हो कि भावावेग में नहीं वहोगी। ईश्वर अपनी फिक्र करेगा कि तुम्हारी ? अरे, तुम्हारा पति तुम्हारी फिक्र नहीं कर रहा है। सच, यहाँ कौन किसका है ! धन पास रहे तो काम तो आता है। चाभियाँ और कागज सम्हाल लेना। सब ठीक कर दिया है। कोठी यह तुम्हारी है।"

पत्नी आँसू डालकर रोने लगी। "मुझे कुछ नहीं चाहिए। पर तुम कहाँ जा रहे हो ?"

"नहीं चाहिए सही। पर संसार चलाया तो उसका ऋण भी तो चुकाना है। सांसारिक कर्त्तव्य यहाँ अधूरा छोड़कर जाने से आगे भी मैं क्या पाऊँगा। उसकी पूर्ति तो मेरे हिस्से का काम है। मेरे कर्त्तव्य से तो मुझे तुम च्युत नहीं होने दोगी। उठो, वह मेरा दान नहीं, स्वयं मैं हूँ।"

सारांश, होनहार रुका नहीं और जिनराजदास सब छोड़ परिभ्रमण को निकल पड़े।

: ३ :

वन-वन घूमे। पर्वत छाने। गुफाओं में रहे। साधु-संग किया। पीड़ा सही। तत्वज्ञों की शरण गही। सब झेला, पर प्यास बुझाना तो क्या, उल्टे बढ़ती गई।

दूर से पहाड़ काली पाँत से दीखते तो उत्साह होता कि वहीं

पहुँचना होगा। गहन से गहन स्थान पर गये जहाँ प्रकृति का निभृत सौंदर्य अस्पृष्ट पड़ा था। चित्त को उस से आह्लाद हुआ। नदी-निर्झर, गिरि-गह्वर, लता-कुञ्ज, उजली धूप और खिलती सुषमा, गाते पक्षी और झूमते वृक्ष इन सबसे चित्त पुलकित हुआ। पर क्या प्यास बुझी? क्षण-भर को वह भूल भले गई हो, बुझने के विरुद्ध तो वह तीव्र ही होती चली गई।

केवल प्रकृति में समाधान न था। उसके आस्वाद में रस था, पर छल भी था।

ऐसे वह चलते गए, चलते गए। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, आधि-व्याधि, आपदा-विपदा, जो मिले अपना प्रसाद मान कर भोगते गए और चलते गए। हिसाब तो बेबाक़ करना ही होगा। जाकर वही-खाता जो वहाँ दिखाना है। अतुल विलास का साधन जो उन्होंने अपने चारों ओर जुटाया था, उसका कम मूल्य तो नहीं था। वही अब पाई-पाई इस पर्यटन में चुका डालना होगा। मानो समय कम है और चुकाना बहुत है। कुछ इस भाव से जंगल से जंगल और पहाड़ से पहाड़ वह भटकने लगे।

आखिर काया क्षीण हो चली। चलने-फिरने का दम टूटने लगा। तट अब निकट आया। तट के पार चलने को यान मृत्यु ही है। मृत्यु में ही मनुष्य का अहंकार निःशेप होता है। इसी से मनुष्य का कोई अनुमान, कोई कल्पना उस तट के पार टोह लेने जाकर बाकी नहीं बच सकी। नोन की पुड़िया समुद्र में क्या खो न जायगी।

अन्त में पहाड़ से उतर कर वह मैदान में आए और नदी-तीर के पास वृक्षों के झुरमुट में एक परित्यक्त स्थान पर उन्होंने विश्राम कर लिया।

: ४ :

राह में एक कुत्ता उनके साथ हो लिया था। उसे घायल पड़ा हुआ देख उन्होंने कुछ उपचार किया और स्वस्थ होकर वह इन्हें न छोड़ सका। इन्होंने भी उस बारे में विशेष ध्यान नहीं दिया। खाने को जो पाते उसमें कुत्ते का साझा भी मानते और उससे अकेले में बातचीत भी किया करते। कुत्ते के लक्ष्य से उन्होंने आविष्कार किया था कि गम्भीर आदान-प्रदान में भाषा का माध्यम बीच में न होने के कारण अपने से ऊपर जाति के मानव का प्रेम चिरस्थायी रहता है।

इधर दैहिक असमर्थता से अधिक मानसिक तन्मयता के कारण कोई दो रोज़ से वह खाने के प्रबन्ध से उदासीन हो गए हैं। उनका मन, प्राण भीतर की प्यास से बहुत कण्टकित हो उठा है। अपनी सुध उन्हें बिसर गई है, उठने-बैठने, सोने-जागने, खाने-पीने का भी ध्यान उन्हें नहीं रह गया है। देर-देर तक शून्य में टकटकी बाँध कर देखते रह जाते हैं। वहाँ से निगाह हटती है तो उन्हें यह पाकर हैरानी होती है कि उनकी आँखों से आँसू गिर रहे थे।

एक बार इस तरह एकटक निहारते-निहारते उनके मुँह से निकला, "अरे कितना भरमायगा! अब कहीं न जाऊँगा। मौत जिसे कहते हैं, जान गया हूँ, वह तेरा ही हाथ है। ओ छलिया, तू अँधेरा बनकर इसी से न आता है कि आँखें तुझे न पहिचानें। पर ले मैं पा गया। पर कहाँ ?···तू कहाँ है ?"

रह रह कर वह इसी तरह पूछ उठते, "तू क्या है ? कहाँ है ?" "अरे, बोल तो सही कि तू है।" बीच में कभी हंस रहते। कभी रो पड़ते। इसके बाद यह भी अवस्था उनकी न रही कि कुछ प्रश्न बनकर मुँह से उनसे अलग हो सके। मानों अपनी समग्रता में वह

स्वयं ही प्रश्न बन गए। तब स्तब्ध, मूक, ऊपर आसमान में टकटकी बाँधे, खुले मुँह, वह पाषाण की तरह स्थिर हो गए। मानों आँखें जिस बिन्दु की ओर हैं, शरीर का रोम-रोम उसी ओर लौ लगाए अवसन्न और प्रतीक्ष्यमान है।

कुत्ता कुछ रोज़ से अपने साथी की हालत पहिचान कर बेचैन रहने लगा था। आज जब देखा कि उसका साथी न हिलता है न डुलता है, न उसे खाने की सुध है न खिलाने की, एकटक जाने वह क्या देख रहा है! तो पहिले तो उसका ध्यान बटाने की कोशिश में वह इधर-उधर झाड़ी के आस-पास जाकर रह-रहकर यों ही भोंकने लगा। इसमें अलफल होकर वह उनके पास से और पास आता चला गया। किसी भी तरह जब उनसे चैन न पड़ता दीखा तो कान के पास आकर भोंकने लगा।

इस पर जिनराजदास का ध्यान भंग हुआ। उन्होंने झिड़क कर कुत्ते को कहा, "हट, दूर हो।"

कुत्ता दूर होगया। पर फिर साथी की पहले सी हालत देखकर वह चिन्ता में घुलने लगा। उसने एक शरारत की थी। कई दिनों का भूखा होने से कहीं पड़े एक माँस के टुकड़े को वह चाटने लगा। सहसा उसे विचार हुआ कि मेरा साथी आदमी भी तो भूखा है। इस पर आहिस्ता से मुह उठाकर वह टुकड़ा उसने पास एक झाड़ी में छिपाकर रख दिया था। सोचता था कि उन्हें चेत होगा तो सामने रख दूँगा। मेरा कुछ नहीं, पर वह भूखे हैं। किन्तु जिसकी खातिर वह ऐसा सोच रहा था उसी से सहसा झिड़की खाकर वह निरुत्साहित हो गया।

बैठे-बैठे उसने विचारा कि यह बिचारे भूख की वजह से ही मुझ पर नाराज़ हुए होंगे। चलूँ, उस टुकड़े को उनके पास ही ले

चलूँ। यह सोचकर माँस का टुकड़ा चुपके से उनकी पीठ की तरफ डालकर वह जिनराजदास के सामने पूँछ हिलाता हुआ खड़ा हो गया। जिनराजदास ने उधर ध्यान न दिया। इसपर अगले दोनों पैर जिनराजदास के कन्धे पर रखकर उनके मुँह के पास ले जाकर मानों उन्हें चाटना चाहने लगा।

जिनराजदास ने इस चेष्टा पर कुत्ते को जोर से धक्का देकर दूर फेंक दिया।

कुत्ता कुछ देर तो वहीं पड़ा रहा और जाने क्या सोचता रहा। फिर उठकर वह उनके पैरों के पास आकर चुपचुपाता बैठ गया। बैठा-बैठा फिर अपनी जीभ से उनके तलुवे चाटने लगा।

बार-बार इस तरह अपना ध्यान भंग होना जिनराजदास को अच्छा नहीं लग रहा था। वह मानते थे कि इसी समय को मैं अपना अन्त समय बना लूँगा और समाधि-मरण प्राप्त करूँगा। पर यह अभागा कुत्ता आत्मध्यान से उन्हें बार-बार च्युत कर देता था। इस बार किंचित् रोष में उन्होंने जोर से पैर की लात मार कर कुत्ते को अपने से परे कर दिया।

कुत्ता सहसा चीखा, लेकिन शायद वह अपने साथी को बहुत प्यार करने लगा था। इससे कुछ देर आस-पास डोलकर वह वहीं पैरों के पास क्षमा-प्रार्थी बना हुआ आ लेटा। कुछ देर तो दोनों पैरों में मुँह देकर आँख-मींचे उन्हीं की तरह ध्यानस्थ पड़ा रहा। अनन्तर पीछे से माँस का टुकड़ा खींचकर स्वयं ही उसे चबाने लगा।

कुत्ते के मुँह की चपचप से जिनराजदास की तल्लीनता इस बार टूटी तो उनको बहुत ही बुरा मालूम हुआ। तिसपर देखते

क्या हैं कि कुत्ता माँस का टुकड़ा चबा रहा है जिसके उच्छिष्ट कण दो-एक उनके बदन पर भी पड़े हैं।

इस पर सहसा क्रोध में आकर उन्होंने कुत्ते को लात से बेहद मारा और मारते-मारते अपने पास से दूर खदेड़ दिया।

कुत्ता चला गया और जिनराजदास उसी तरह अपनी जगह आ बैठे। उन्होंने सोचा कि अब ध्यान में कोई बाधा न होगी।

पर कुछ देर में आँख खोलकर उन्होंने इधर-उधर देखा कि कुत्ता आ तो गया है न, चला नहीं गया। पर वह नहीं आया था। यह उनको अच्छा नहीं लगा। लेकिन इस बात को मन से हटाकर वह अपने ध्यान में लीन हो गए। पर देखते क्या हैं कि आकाशस्थ जिस बिन्दु पर वह ध्यान जमाते हैं, वहाँ रह-रह कर कुत्ते का चित्र प्रकट होने लगा है। तब आँख बन्द कर अपने भीतर उन्होंने ध्यान जमाना चाहा। पर वहाँ भी बीच-बीच में कुत्ता प्रकट होने लगा। इस पर उन्हें बहुत बुरा मालूम हुआ और कुत्ते को कोसने को जी चाहा। पर जितना रोष बढ़ता, कुत्ता उनके भीतर-बाहर उतनी ही प्रबलता से उनके समक्ष और प्रत्यक्ष ही रहता। यहाँ तक कि कुछ पल टिककर आत्मध्यान में रहना उनके लिए कठिन हो गया। अन्त में निराश होकर उन्होंने तय किया कि उस कुत्ते को फिर से पाना होगा।

कुत्ता ज्यादा दूर नहीं गया था। वह एक हड्डी से चिपटा हुआ था। जिनराजदास को पास आते देख उसने गुर्राना शुरू किया।

जिनराजदास ने कहा, "चलो भाई, गलती हुई। मेरे साथ चलो।"

इस पर कुत्ते ने दाँत दिखाए। मानों कहा, "और आगे न आना, नहीं तो मैं नही जानता। यह हड्डी मेरी है।"

जिनराजदास बढ़े ही चले गए। उनके मन में स्नेह था और पछतावा था।

कुत्ते ने देखा कि इस आदमी के चेहरे पर गुस्सा नहीं है, वहाँ प्यार है और दया है। जैसे यह उसका अपमान हो। झुँझलाकर कुत्ते ने फिर चेतावनी दी, "मेरे दाँत पैने हैं, खबरदार आगे न बढ़ना, अब हम दोस्त नहीं हैं।"

जिनराजदास ने कहा, "मुझे माफ़ करो, भाई! मैंने तुम्हारा तिरस्कार किया अब ऐसा नहीं करूँगा।"

किन्तु तब तक कुत्ते ने अपने दाँत उनकी टाँगों में गाड़ दिये थे। और इतने से सन्तुष्ट न रहकर वह उन टाँगों को पूरी तरह झिंझोड़ देना चाहता था।

पैर में उनके लिपटते ही जिनराजदास वहीं बैठ गये और टाँगों की तरफ देख कर कहा, "यह तो तुमने ठीक ही सजा दी। लेकिन भाई" कहने के साथ उनके गले में अपनी बाँह डाल देनी चाही।

कुत्ते को तब कुछ सूझ न रहा था। अपने गले की ओर बढ़ती हुई जिनराजदास की वही बाँह उसने मुँह में धर ली और दाँतों को गहरा गाड़ दिया।

जिनराजदास ने कहा, "चलो यह भी ठीक है। पर अब आओ, मेरी गोद में तो आओ।" यह कहते हुए उन्होंने अपनी दूसरी बाँह को पीछे से डालकर कुत्ते को गोद में ले लेना चाहा।

कुत्ते ने उलटकर उसी तरह दूसरी बाँह को भी लहू-लुहान कर दिया।

जिनराजदास ने इस पर हँसकर प्यार से अपनी ठोड़ी पीठ पर डालकर कुत्ते को किञ्चित् अपनी तरफ लिया। पर कुत्ते ने छूटते

ही उनके मुँह को नोच लिया। इस भाँति कुत्ता उनके प्रेम से अपने को स्वतन्त्र कर वहाँ से भाग गया।

उस समय जिनराजदास हाथ-पैर छोड़कर वहीं घास पर लेट रहे। शरीर से जगह-जगह से लहू बह रहा था, पर चित्त में अब भी कुत्ते के लिए प्यार भरा था। अपने क्षत-विक्षत देह की उन्हें कुछ संज्ञा न थी। उन्हें इस समय अपनी मृत्यु में परम तृप्ति मालूम होती थी। अपने से दूर किसी वस्तु के पाने की आवश्यकता इस समय उनमें शेष नहीं रही थी। मानो जो है, वह उनके भीतर भी भरपूर है।

ऐसी अवस्था में जब कोई प्रश्न उनके अन्तर को नहीं मथ रहा था, एक प्रकार की कृत कामना उनके समस्त अन्तरङ्ग में परिव्याप्त थी और शरीर से लहू के मिस मानो उनके चित्त से स्नेह ही उमग-उमगकर बह रहा था। जिनराजदास ने मृत्यु को अपना आलिङ्गन दिया।

ठीक, मृत्यु के साथ अपनी भेंट के समय, उस दिव्य अन्त-र्मुहूर्त में उन्होंने पा लिया कि वह साध्य क्या है जिसे पाना है और वह साधना क्या है कि जिस द्वारा पाना है। वे दो नहीं हैं, इस प्रकार परमानन्द के क्षण में वह माँ की उस गोद में जा मिले जो अनन्त प्रतीक्षा में आतुर भाव से सबके लिए फैली है।

नीलम देश की राजकन्या

वह सात समुन्दर पार जो न नीलम का द्वीप है, वहाँ की कहानी है।

वहाँ की राजकन्या को एकाएक किन्नरी-बालाओं का हास-कौतुक जाने क्यों फीका लगने लगा है। आमोद के सभी साधन हैं। अनेकानेक स्वर्ग की अप्सराएँ सेवा में रहती हैं, अनेकानेक गन्धर्व-बालाएँ और किन्नरी तरुणियाँ। महल हैं तीन। एक पुखराज का है, दूसरा पन्ने का और तीसरा हीरे का। अप्सराएँ उनमें ऐसे डोलती हैं जैसे फुलवारी और उनसे उज्ज्वल हँसी की फुहार फूटकर पराग-सी चहुँ-ओर बिखरी रहती है। और उसके सभी कहीं दुलार और अभ्यर्थना है। पर राजकन्या का जी जाने कैसा रहने लगा है।

बड़े-बड़े प्रासादों के आँगनों और कोष्ठों में जा-जाकर राजकन्या अपने को बहलाती फिरती है। पर सब तरुणी संगिनियों के बीच घिरी रहकर भी जाने कैसा उसे सूना लगता है।

कहती है, "तुम जाओ। मुझे तो तुमने बहुत आनन्दित कर

दिया है। मैं उतने के योग्य नहीं हूँ। बस, तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ, मुझे अब अकेला छोड़ दो।"

किन्नरियाँ सुन कर खिलखिला कर हँस पड़तीं हैं, कोई वेणी में फूल खोस देती है, कोई राजकन्या की देह पर पराग बखेर देती है। कहतीं हैं, "सखि! हम को दुत्कारो मत। राजकुमार आएँगे, तब हम अपने आप चली जाएँगी।" यह कहकर वे फिर खिलखिला कर हँस पड़तीं हैं।

राजकन्या कहती है, "कैसे राजकुमार! कौन राजकुमार? तुम मेरी बैरिन क्यों बनी हो?

इस पर वे किन्नरी बालाएँ और भी खिलखिल हँसतीं हुई कहती हैं, "कोई राजकुमार तो आते ही होंगे। नहीं तो हमने क्या बिगाड़ा है कि हमें झिड़कती हो? पर सखि जी, यह नीलम का द्वीप है। बीच में समुन्द्र सात हैं, तब धरती आती है। यहाँ तक तो कोई भी राजकुमार नहीं आ सकते हैं। यहाँ का यही नियम है।"

राजकन्या यह सुनकर वहाँ से चल देती है। कुछ नहीं बोलती, नहीं बोलती। अप्सरा-किन्नरियों की खिल-खिलाहट भी उसके पीछे चलती है। तब राजकन्या हठात् सोचती है, सब झूठ है। पर सब झूठ है?......

.. तो यह भीतर प्रतीक्षा कैसी है? अभिषेक नहीं होना है तो रस इकट्ठा होकर मन को उभार की पीड़ा क्यों दे रहा है? जब किसी को भी आना नहीं है तो भीतर प्रतिक्षण यह निमन्त्रण किस का ध्वनित हो रहा है? क्या किसी का भी नहीं? आँगन पुष्पित प्रतीक्षमाण है, रोज-रोज प्रातः-सायं मैं उसे धो देती हूँ, आसन बछा देती हूँ। क्या उस आँगन पर चलकर आसन पर अधिकार जमाने वाला सचमुच वह "कोई" नहीं आने वाला है? तब आँगन

आप ही आप पुष्पित क्यों हो उठता है ? आयगा ही यदि कोई नहीं अपने पग-चाप से उसे कँपाता हुआ,—अपने निक्षेप से उस कम्पन को मिटाता हुआ, तो क्यों मैं उस अपने वक्ष को रोज-रोज आँसुओं से धोया करती हूँ ? क्यों है यह ? क्या सब व्यर्थ ? सब भूठ ? किन्तु नहीं है व्यर्थ। नहीं है भूठ। किसी क्षण भी कण्टकित हो उठने वाली मेरी पुष्पित देह मेरी प्रतीक्षा की साक्षी है। और वह प्रतीक्षा ऐसी सत्य है कि मैं कुछ भी और नहीं जानती। इस ओर यह सत्य है, तब उधर प्रति-सत्य भी है। वह है कैसे नहीं जो आयगा, देखेगा और जिसके दृष्टि-स्पर्श से ही मैं जान लूँगी कि मैं नहीं हूँ, मैं कभी नहीं थी—सदा वही था, वही है और मैं उसी में हूँ। जो आयगा और मेरे सब-कुछ को कुचल देगा। कहेगा, "अब तक तू भूल थी। अब मेरी होकर तू सच हो। तू यह अलग कौन है ? तू मुझ में हो।" ऐसा जो है वह है, वह है। मेरा अणु-अणु कहता है कि वह है। वही है, मैं नहीं हूँ।

प्रासाद अप्सराओं और किन्नरी-कन्याओं से उद्यान बना रहता है,—हरियाला, रङ्गीन और जगमग। राजकन्या की प्रसाधना-सेवा ही उन सेविकाओं का काम है। और वे ऐसी हैं कि निष्णात। उनकी विनोद-लीलाओं का पार नहीं। राजकन्या के चारों ओर पुष्पहार के समान वे ऐसी इर्थी-गुर्थी रहती हैं कि अवकाश कहीं से भी सन्धि पाकर राजकन्या के पास नहीं आ सके। क्या पता, उस अवकाश-सन्धि में से फिर कोई प्रश्न, कोई अभाव, कोई अवसाद ही झाँकने लग जाय ?

पर एक अभाव तो झाँकने लगा ही। बाहर से नहीं, वह तो भीतर से ही झाँक उठा। राजकन्या कुछ चाहने लगी,—कुछ वह कि जाने क्या ! किन्नरी-कन्याएँ यह देख सोच में पड़ गईं। उनसे

क्या असावधानी हुई ? क्या उन्होंने राजकन्या के मन को कभी एक छन को भी अवकाश दिया है ? अपने प्रभु वैभवशाली इन्द्र की आज्ञा पर जो राजकन्या की सेवा में नियोजित हैं, सो क्या उन्होंने अपने कर्तव्य में तनिक भी त्रुटि की है ? फिर यह राजकन्या में कैसे लक्षण दीखने लगे हैं ? और वे किन्नरी-बालाएँ अत्यधिक तत्परता से राजकन्या के जी-बहलाव में लग पड़ीं ।

बोलीं, "आओ राजकन्या, खेलें ।"

राजकन्या ने फीकी मुस्कराहट से कहा, "खेलोगी ? अच्छा खेलो ।"

किन्नरियाँ बोलीं, "राजकन्या, तुम यह कैसे बोलती हो ? पहले हम से ऐसे पराये भाव से नहीं बोलती थीं । तुम्हारा मन कैसा हो गया है ? हम से उदास क्यों रहती हो ?"

राजकन्या ने कहा, "नहीं नहीं, सखियों, मैं कहती तो हूँ, आओ खेलें ।"

किन्नरियों ने विषण्ण भाव से कहा, "राजकन्या, हम जानती हैं, तुम्हारा चित्त हम से उदास है । हम से ऐसी क्या भूल हुई है ?"

राजकन्या उन सब के गले मिल-मिल कर कहने लगी, "नहीं नहीं सखियो, ऐसी बात मत कहो । हम सब बचपन की संगिनी हैं । तुम्हारे बिना मैं क्या हूँ ? चित्त कभी उदास हो जाता है, सो जाने क्यों ? पर मैं तुम लोगों से अलग नहीं हूँ, तुम्हारी हूँ ।"

किन्नरियों ने कहा, "तुम अब हमारी नहीं रह गई हो राजकन्या, तुम अकेली रहती जा रही हो ।"

"अकेली ! अकेलापन तो हाँ, मुझे कुछ-कुछ लगता है । मैं क्या करूँ ? पर अब मैं ऐसी नहीं रहूँगी । अकेलापन मुझ से सहा नहीं जाता ।"

किन्नरियों ने कहा कि राजकन्या, अब हमारा खेलने का अन्त आ गया दीखता है। जैसा भाग्य। किन्तु राजकन्या, दोष तो हमारा कोई नहीं है।

इस पर राजकन्या ने सब को एक-एक कर अपनी छाती से लगाकर कहा, "नहीं-नहीं सखियो, मैं खूब खेलूँगी, खूब खेलूँगी। कभी-कभी चित्त मेरा बुरा हो आता है। तब तुम यह मत समझो, मुझे क्लेश नहीं होता। मन पर उस वक्त बड़ा बोझ रहता है। पर अब मैं खुल कर खूब खेला करूँगी। सच, खूब खेला करूँगी।"

"अरी अरी राजकन्या, तू कैसी बात करती है? तू खूब-खूब खेला करेगी, तू? भली खेलेगी तू! तेरे भीतर इस पुष्पित आँगन के किनारे से लगा जो आसन बिछा है, और जो वहाँ एक की बाट जोही जा रही है, वह क्या झूठ है? तू जानती है वही तेरा सच है। फिर क्या तू खेल में उसे पूरी तरह बिखेर देकर निबट रहना चाहती है? पगली, यह चाहती है तो करके देख। पर..."

और राजकन्या क्या सचमुच खूब-खूब खेलती रह सकी? पर खिलौनों से कब तक कोई अपने को बहला सकता है?

* * *

अगले दिन कहाँ गईं वे किन्नरियाँ! कहाँ गईं वे अप्सराएँ! कहाँ गईं गन्धर्व-बालाएँ? पुखराज के उस बड़े-बड़े महल के बड़े-बड़े आँगनों और कोष्ठों में राजकन्या भाग-भाग कर देख आई,—कहाँ गईं वे सब सखियाँ? कहाँ गईं वे मन की परियाँ! कहीं भी तो कोई नहीं दीखता। क्या वे सपना थीं? माया थीं? पन्नों का महल वह देख आई, हीरे का भी देख आई। कहीं कोई नहीं, कहीं कोई नहीं। यहाँ से वहाँ, वहाँ से यहाँ, भटककर उसने

देखा,—कहीं कोई नहीं, कहीं कोई नहीं । फूल हैं तो फीके हैं । पराग है तो बिखरा है । जो है, सूना है ।

"अयि, तुम कहाँ गई हो सखियो? मुझे छोड़ तुम कहाँ गईं?" दूर-पास उसका प्रश्न टकराने लगा, "तुम सच्ची नहीं थीं क्या सखियो ? फिर मुझे छोड़ क्यों गईं ?" और वह उस टकराहट के जवाब में भीतर मानो ध्वनित-प्रतिध्वनित होता हुआ सम्बोधन भी सुनने लगी, "ओ राजकन्या, तुम अकेली कब नहीं थीं जो अब अकेली न रहो ? हमसे तुम जब तक बहलीं, तब तक हम थीं। तुमने अपना अकेलापन सम्भाला और हम जिस लायक थीं उस लायक रह गईं । राजकन्या, तुम्हारा अकेलापन तुम्हारा है । इसे वही लेगा जो इसके लिए है ।"

राजकन्या कहना चाहने लगी, "नहीं नहीं नहीं, अब मैं अकेली नहीं रहूँगी, तुम सब आ जाओ । मैं बस अब खेलती रहूँगी, खेलती रहूँगी ।"

पर अपने ही उत्तर में वह सुनने लगी "यह झूठ है, राजकन्या ! तू वह नहीं है । तू खेल नहीं है । तू उनसे अकेली है, यद्यपि अन्त तक अकेलापन छल है ।"

* * *

पल बीते, दिन बीते, मास बीते । राजकन्या पुखराज और पन्ने और हीरे के अपने महलों के बड़े-बड़े आँगन और कोष्ठों में घूम-घूमकर परखने लगी कि वह एक है, अकेली है । कहीं कोई नहीं है, कहीं कोई नहीं है । महल हैं जो जितने बड़े हैं उतने ही वीरान हैं । हवा उनमें से साँय-साँय करती हुई निकल जाती है । समुन्दर का जल सीढ़ियों पर पछाड़ खाता रहता है । पक्षी आकर

ऊपर-ही-ऊपर उड़ जाते हैं। बादल जहाँ-तहाँ भागते रहते हैं। आसमान गुम्बद-सा नीला-नीला निर्विकार खड़ा रहता है। और राज-कन्या पाती है, उसका कोई नहीं है, कोई नहीं। वह अपनी ही है।...लेकिन क्या वह अपनी ही है?

बीतते पलों के बीच काल स्थिरता से देख रहा है। राज-कन्या के मन के भीतर निमन्त्रण अहर्निशि झङ्कार दे रहा है, यद्यपि बाहर सब मौन है। वह मन्त्र की निरन्तर जागृत ध्वनि ही उसका सहारा है,—नहीं तो एकदम सब शून्य है, सब व्यर्थ है। उसके भीतर जो प्रतीक्षा है, वही है सब निस्सारता के बीच सार सत्य। जब प्रतीक्षा है सत्य, तो वह असत्य कैसा जिसकी प्रतीक्षा हो? जब प्रतीक्षा मैं कर रही हूँ तो प्रतीक्षा को समाप्त कर देने या उसे असमाप्त रखने वाला भी है। वह नहीं है, तो मैं ही नहीं हूँ।—पर मेरे भीतर की झङ्कार तो है ही, तब उसको धारण करने वाली मैं भी हूँ। और तब उसको ध्वनित करने वाला वह भी है और है।

पर मास बीते, वर्ष बीते, शताब्दियाँ बीतीं, युग बीते। महल के बड़े-बड़े आँगन-प्रकोष्ठों में खड़े हुए स्तम्भ, ऊपर की छतें, सामने की दीवार और चारों ओर का शून्य गुँजा-गुँजा कर कहता है, "कोई नहीं है, कोई नहीं है। अरी ओ राजकन्या, बस काल है जो बीतने का नाम है। काल है जो मौत का भी नाम है। अरी राजकन्या, बस कहीं और कुछ नहीं है।"

पर राजकन्या के भीतर तो अहरह एक मन्त्रोच्चार की ध्वनि हो रही है, उसे इन्कार करे तो कैसे? नहीं कर सकती, नहीं कर सकती। इसमें काल को चुनौती मिलती है तो भी क्या। "वह है, वह है। नहीं तो मैं किसके लिए हूँ? अपनी प्रतीक्षा के लिए मैं हूँ और मेरी प्रतीक्षा उसके लिए है।"

हवा सन-सन करके उसके कानों में से भाग जाती है। समुन्दर का हाहाकार चेतना को दबोच लेना चाहता है। काल आकर उसके सब-कुछ को मानो रौंदता हुआ उसके ऊपर से जाकर भी नहीं जाता, वह भागता हुआ भी उसके ऊपर डटा खड़ा है।

राजकन्या को लगता है, मानो एक अट्टहास कह रहा हो कि "ओ राजकन्या, देख, चारों ओर सब खोखला है कि नहीं? अरी ओ, कुछ नहीं है, कुछ नहीं है। तेरे मन के भीतर का राग एक रोग है। मत बीत और मत अपने को बिता। राजकन्या, कहीं कोई नहीं है। धरती दूर है, बीच में समुन्दर सात हैं, और आने वाला राजपुत्र कहीं कोई नहीं है, कोई नहीं है। कह तो एक बार कि 'कोई नहीं है।' फिर देख कि वे सब किन्नरियाँ पलक मारते में तेरे पास आती हैं या नहीं। वह सब मेरी बाँदियाँ हैं।"

राजकन्या पुकारना चाहती है कि "ओ! मेरी सखियों को मुझे दे दो। पर जिसके लिए मैं हूँ, वह तो है, वह है। नहीं तो मैं नहीं हूँ।"

उसकी इस बात पर मानो अट्टहास और भी सहस्र-गुणित होकर उसके चारों ओर व्याप जाता है, मानो उसे लील लेना चाहता हो।

तब राजकन्या आँख मूँदकर, कान मूँदकर प्राणपण से भीतर ही कह उठती है, "तू है। नहीं आया है तो भी तू आ ही रहा है। तू आने के लिए ही नहीं आया है। इस तेरी ठगाई में आकर मैं प्रातः-सन्ध्या तेरे आँगन को धोने में चूक करने वाली नहीं हूँ, ओ छलिया! जो नहीं जाने वह नहीं जाने। पर क्या यह हँसने-वाला काल बली भी नहीं जानता है? पर मैं जानती हूँ। सुन, ओ सुन, मैं और मेरी प्रतीक्षा, हम दोनों तुझ से टूटने के लिए ही टिके

हैं। नहीं तो हम होते ही क्यों ? तू आयेगा, और मैं टूटकर कृतार्थ हूँगी !"

चारों ओर होता हुआ अट्टहास चीत्कार का रूप धर उठा। मानो सहस्रों कंकाल दाँत किटकिटा कर विकट रूप से गर्जन कर रहे हों। हवा प्रचण्ड हो उठी। समुद्र दुर्दान्त रूप से महल पर फन पटक-पटक कर फूत्कार करने लगा। जान पड़ा, सब ध्वंस हो जायगा।

इस आतङ्ककारी प्रकृति के रूप के नीचे राजकन्या भय से काँप-काँप गई। पर वह जपती रही, "तू है। तू है।"

थोड़ी देर में किसी ने उसके भीतर ही जैसे हँसकर कहा, "आई बड़ी राजकन्या! पगली, ढिट्-ढिट्!! मैं कहाँ अलग हूँ ? अरे कहीं मेरे सिवा कुछ है भी जो डरती है ? कह क्यों नहीं देती कि मैं नहीं हूँ ? क्योंकि मैं तो तेरे 'नहीं' में भी रहूँगा। सुना ? अब आँख खोल और हँस।"

उस समय राजकन्या ने दोनों हाथों से पूरे जोर से अपने वक्ष को दबा लिया। उसके सारे गात में पुलक हो आया। वह यह-सब कैसे सहे ? कैसे सहे ? उसके मुँह से हर्ष की एक चीख निकली। मानो वह पागल हो गई है।

क्षण-भर बाद उसने आँख खोली। देखती है,—सब ओर वसन्त है और महल के द्वार में से किन्नरी बालाएँ भाँति-भाँति के उपहार लिए बढ़ती चली आ रही हैं।

पास आने पर राजकन्या ने जाने कैसी मुसकान से कहा, "तुम आ गई ? यह क्या-क्या लिए आ रही हो ?"

किन्नरी बालाओं ने कहा, "उपहार है। ये राजपुत्र की इच्छानुसार हमें लाने को कहा गया है।"

"राजपुत्र ! कैसे राजपुत्र ?"

"अभी हमारे आगे-आगे उनकी सवारी आ रही थी, राज-कन्या ! सचमुच अब वह कहाँ गये ?"

राजकन्या ने मुस्कराकर कहा, "कौन राजपुत्र जी ? एक तो आये थे, उनको मैंने कैद में डाल लिया है। अब वह उपद्रव नहीं करेंगे। हमारे द्वीप में उनका क्या काम, क्यों सखियो ?"

इसके बाद राजकन्या उठकर अपनी किन्नरी सखियों के साथ एक-एक से गले मिली। अनन्तर वह हर प्रकार की क्रीड़ा में मग्न भाव से भाग लेने लगी, और फिर अवसाद उसके पास नहीं आया।

धरमपुर का वासी

धरमपुर एक गाँव था। वहाँ करमसिंह नाम का एक किसान रहता था। उमर चौथेपन पर जा लगी तो अपने बेटे अजीत को बुला कर कहा, "देखो भाई अजीत अब हम तीर्थयात्रा पर जाएँगे। संसार किया, समय है कि अब भगवान् की सोचें। तुम दोनों जने मेहनती हो, ज़मीन अच्छी है और मालिक भी नेक है। किसी बुराई में न रहो तो भगवान् का नाम लेते हुए अच्छी तरह दिन बिता सकते हो। इसलिए मुझे अब जाने दो।"

करमसिंह दो बरस से इस दिन की राह देख रहा था। अजीत की माँ उठी तभी से उसका यहाँ चित्त नहीं है। अब अजीत का विवाह भी कर चुका है। और बहू भी हाथ बटाने वाली आयी है। इस तरह सब तरफ से निश्चिन्त होकर करमसिंह तीर्थ-यात्रा पर चल दिया। कहा, "अजीत, हमारी भारत-भूमि में तीर्थ-धाम अनेक हैं। इससे मैं कब लौट सकूँगा, इसका ठिकाना नहीं। तुम बहुत आस में मत रहना।"

पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर के अनेक तीर्थों के उसने कार्य किये।

इसमें कई वर्ष लग गए । अनन्तर घूमता-घामता वह वापस धरमपुर पहुँचा। पर अपने धरमपुर को वह अब पहचान न सका। आँखें फाड़-फाड़ कर वह इधर-उधर देखने लगा। दूर-दूर तक खेत नहीं थे और धरती कोयले की राख से काली थी । उसने अपनी झोंपड़ी देखनी चाही और वह बगिया देखनी चाही जहाँ आम-अमरूद के दो-चार पेड़ उगा रक्खे थे। पर वह किसी तरह अन्दाज़ नहीं कर सका कि यहाँ उसकी जगह कहाँ रही होगी। कई बार इस पक्की सड़क और पक्के मकान की नगरी का चक्कर उसने काटा। अन्त में जहाँ उसने अपनी जगह होने का निश्चय किया, वहाँ देखता है कि लाल-लाल जलती हुई एक भट्टी मौजूद है। आस-पास कोयले-वाले जमा हैं और आग मद्धिम होती है तो उसमें डालते जाते हैं। वे भट्टी को बार-बार धधकाये रहते हैं। तो क्या इस भट्टी में ही हमारी झोंपड़ी भी स्वाहा हुई है। उसने पूछा, "क्यों भई, यहाँ अजीत और उसकी बहू रहते थे, वे कहाँ है।"

लोग तेजी से कुछ कर रहे थे, जिस को करमसिंह नहीं समझ सका कि क्या कर रहे हैं। उन्होंने उसकी बात की तरफ ध्यान नहीं दिया। गाँव के सब लोगों को वह जानता था। लेकिन उन में से यहाँ एक भी दिखाई नहीं देता था। कुछ देर बाद देखता क्या है कि महदेवा मौजूद है। उसने उधर ही बढ़कर कहा, "महदेवा, कहो भाई अच्छे तो हो ?"

महदेवा की देह से पसीना निकल रहा था। आँखों को बार-बार मलता और सुखाता वह हाँफ रहा था। वह बहुत काम में था। करमसिंह ने बिलकुल पास पहुँचकर पुकारा तब उसे चेत हुआ। महदेवा ने पीछे मुड़कर देखा, कहा, "क्या है ?"

करमसिंह ने कहा, "मुझे पहचानते नहीं हो, महदेवा ?"

महदेवा ने ध्यान किया और बोला, "अरे कक्का ! कहो, कब आये ?"

करमसिंह ने कहा, "आ ही रहा हूँ। पर अजीत और उसकी बहुरिया कहाँ हैं ?"

महदेवा ने कहा, "साल-भर हुआ तब वे दूसरे कारखाने में थे। अब तो हमें भी पता नहीं है।"

"कारखाने में !" दोहराता हुआ करमसिंह चुप रह गया।

उसके जमाने में इधर-उधर भटकते मवेशी जिस में बन्द किये जाते थे, उसे काँजी-खाना कहते थे। कारखाना कुछ वैसी ही कोई बात न हो। लेकिन, नहीं उसने हिम्मत से सोचा कि किसी रहने की जगह का नाम होता होगा। अन्त में उसने पूछा, "कारखाना क्या भाई ?"

महदेवा ने अचरज में पड़कर कहा, "अजी, कारखाना ! वह कारखाना ही तो होता है। वहाँ बहुत आदमी काम करते हैं। अच्छा कक्का, अब संझा को मिलेंगे। मालिक पूरा तोल के काम रखवा लेता है।"

करमसिंह वहाँ से आगया। गाँव की काया-पलट हो गई थी।

जगह-जगह ऊँची-ऊंची सुर्रियाँ-सी खड़ी थीं, जिनमें से धुआँ निकल रहा था। तो क्या वे पोली हैं ? और पोली हैं तो इसलिए कि पेट में काला धुआँ भरे रहें ? यहाँ सब से ऊँची चीज उसे इन्हीं धुआँ फेंकने-वाली सुर्रियों की दिखाई दीं। पहले एक मन्दिर था जिसका कलश बहुत ऊँचा दीखता था। कोई कोस-भर से दीख जाता होगा। अब इन सुर्रियों के आगे किसी मन्दिर के कलश की बिसात नहीं है। अव्वल तो मन्दिर वैसे ही कोने-कुचारे में हो गये हैं। उसने पूछा, "क्यों भाई, ये ऊँची-ऊँची सुर्रियाँ क्या हैं ?"

बताने वाले ने बताया, "ये कारखाने हैं।"

उसने कहा, "कारखाने तो होंगे। पर ये लम्बी गर्दनें, जो धुआँ उगलती हैं, ये क्या हैं? यही कारखाने हैं? इनमें आदमी।"

धीरज धरकर राहगीर ने उत्तर दिया, "ये उन्हीं कारखानों की चिमनियाँ हैं।"

करमसिंह सुनता रह गया। उसकी समझ में कुछ नहीं आया। उसने कहा, "कारखानों में सुनते हैं आदमी होते हैं। चिमनियाँ क्या उन्हीं का धुआँ बनाती हैं?"

उस की बात सुनकर राहगीर का धीरज टूट गया और वह अपनी राह सीधा हो लिया।

करमसिंह बहुत विचार में पड़ गया। पहले तो कारखाने होते हैं जिनमें बहुत-से आदमी काम करते हैं। फिर उनकी चिमनियाँ होती हैं, जिनकी गरदन बहुत ऊँची होती है और जो अन्दर आदमियों को लेकर मुँह से धुआँ निकालती हैं। ऐसा ही चिमनी-दार कोई कारखाना होगा जिसमें अजीत काम करता होगा। लेकिन काम तो मैं गया तब भी उसे घर पर करने को बहुत था। खेत थे, बैल थे, गऊ थी और सेवा के लिए हारी-बीमारी में पास-पड़ोसी लोग थे। वह काम फिर क्या था जो अजीत कारखाने में करने गया? उसकी अकल काम नहीं दे रही थी। अपनी झोंपड़ी की जगह लाल-लाल धधकती हुई भट्टी की उसे याद आती थी। झोंपड़ी में हम रहते थे। इस भट्टी के ऊपर कौन रहता होगा? जरूर उस भट्टी के होने में किसी का कुछ मतलब तो होगा। पर वह मतलब उसकी समझ में कुछ नहीं आता था।

वह जिस-तिस से पूछने लगा, "भाई ये कारखाने और ये

भट्टियाँ और ये चिमनियाँ यहाँ कौन ले आया है और किसलिए लाया है?"

शहर में अब जनरल काम के लोग भी हुआ करते हैं। वे कोई खास काम के नहीं होते। वे बे-मेहनत रहते हैं। इसलिए वे मजे से रहते हैं। एक ऐसे ही बन्धु आ रहे थे। उन्हें नई बात की टोह रहती है। इस नई तरह के प्राणी को देखकर उनमें चैतन्य जागृत हुआ। पुराने ग्रन्थ, चित्र, मूर्ति और इसी तरह की अन्य वस्तुओं का वे पता रखते हैं औ यदा-कदा सौदा भी करते हैं। इस कारण वे विद्वान् भी हैं। उन्होंने कहा, "तुम पुरातन काल के आदिवासी प्रतीत होते हो। आओ, मेरे सथ चलो।"

करमसिंह ने कहा, "हाँ, मैं यहीं रहा करता था।"

धीमान् ने पूछा, "यहीं कहाँ?"

"इसी धरमपुर में।"

"धरमपुर! ओ, तुम्हारा मतलब इसी दामपुर से है। तो प्राचीन काल में धरमपुर भी यही था—"

बन्धु ने यह बात नोट-बुक निकाल कर नोट की।

करमसिंह ने आश्चर्य से कहा, "दामपुर! धरम की जगह दाम कैसे आगया?"

उन धीमान् बन्धु ने करुणा-भाव से कहा, "तुम अधिक बाहर रहे हो। इस से कम जानते हो। धर्म की जगह कहाँ है? सब कहीं दाम ही तो है। ठहरो नहीं, आओ।"

करमसिंह खोया-सा होकर उन कुशल बन्धु के साथ-साथ बढ़ लिया। वहाँ पहुँचकर उसे आदर मिला और भोजन भी मिला। अनन्तर पेंसिल और डायरी साथ लेकर वह विद्वान् इस प्राचीन गयु के प्राणी से जानकारी प्राप्त करने लगे। विदेश-देश के पत्रों

में इस सम्बन्ध में उन्हें एक लेख लिखना था। मौलिक पुरातत्त्व गवेषणात्मक लेखों की आज कल न्यूनता है। उन्होंने चर्चा से पूर्व करमसिंह को उठाकर, बिठाकर, एक ओर से, सामने की ओर, पीठ की ओर आदि-आदि कई ओरों से चित्र लिये। क्योंकि विद्वानों के लेख काल्पनिक नहीं सप्रमाण होते हैं।

करमसिंह ने अपनी ओर से पूछा, "कारखाने मैंने सुने हैं। दूर से उनकी धुएँ वाली चिमनियाँ देखी हैं और अपनी झोंपड़ी की जगह पर दहकती भट्टी पहचान आया हूँ। यह सब क्या है? और क्यों है?"

विद्वान् ने पहले प्रश्नकर्ता की भाव-भंगिमा और फिर प्रश्न को कापी में दर्ज किया, फिर कहा, "तुम क्या समझते हो।"

करमसिंह ने कहा, "शास्त्रों में मय दानव के मायापुरी रचनेकी बात है। मुझे तो कुछ वैसा ही-सा मालूम होता है।"

विद्वान् उत्तर से बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने तत्काल इसे नोट किया। फिर हँस कर कहा, "यह इंडस्ट्रियल रिवोल्यूशन है।"

करमसिंह सुन कर हैरानी में देखता रह गया। सोचता था कि उसे बताया जायगा कि वह इतने बड़े नाम की वस्तु क्या है? किन्तु विद्वान् उसके हतबुद्धि होने में रस ले रहे थे और बीच-बीच में उसकी आकृति का वर्णन नोट करते जा रहे थे। अन्त में उसने पूछा कि वह जटिल और वक्र नामधारी वस्तु क्या है?

विद्वान् ने हँसकर कहा, "वह मय दानव नहीं है। दानव कल्पना-शरीर है। हमारे एंजिन का शरीर लोहे का है।"

करमसिंह ने हर्ष से कहा, "एंजिन, यह तो अपने देवताओं का-सा नाम प्रतीत होता है। भट्टी कहीं उसी का पेट तो नहीं है। वह क्या खाता है।"

विद्वान् ने हँसकर कहा, "वह कोयले की आग खाता है और कालिमा छोड़ता है।"

करमसिंह को इस वर्णन में बहुत दिलचस्पी हुई। उसने कहा, "वह एंजिन बहुत शक्ति-वाला होता है ?"

विद्वान् प्रसन्न थे, क्योंकि पुरातन वय का अबोध बालक उनके सामने था। यह सब उसे परियों की कहानियों के समान था। बोले, "आदमी नाज खाता है, फल खाता है, फिर भी उसमें थोड़ी शक्ति होती है। घोड़े को दाना देते हैं और उसमें दस आदमियों जितनी शक्ति है ! एंजिन कोयला खाकर बीसियों हार्स-पावर से भी ताकतवर होता है।"

"हार्स-पावर ?"

कुछ अधीरता, फिर भी प्रसन्नता से विद्वान् ने कहा, "तुम पुरातन हो, इससे नहीं जानते। हार्स—घोड़ा पावर—शक्ति। लाखों हार्स पावर के एंजिन दिन-रात चल रहे हैं। यह चारों तरफ नहीं देखते ? अनगिनत हार्स-पावर के जोर से हमने यह इंडस्ट्रियल रिवोल्यूशन किया है।"

करमसिंह ने कहा, "और आदमी ? उसकी शक्ति ?"

विद्वान् बोला, "आदमी नगण्य हैं। एक एंजिन पाँच सौ आदमियों के बराबर है। तब फिर आदमी क्या रह जाता है ? जिस के बस दो हाथ हैं, वह अंक से भी कम है। जिसके ये है, वही यहाँ टिक सकता है।" कहते हुए दाहिने हाथ की तर्जनी से विद्वान् ने अपना मस्तक बताया।

करमसिंह घबराकर बोला, "भगवान् के दिये दो हाथ और उनका श्रम कुछ भी नहीं हैं ?"

विद्वान् हँसे। बोले, "हाथ भगवान् ने बनाए हैं। एंजिन

हमारी बुद्धि ने बनाया है। उसके सामने हाथ बेकार हैं। कारखाने में आदमी का नाम सिर्फ़ हाथ है।"

करमसिंह ने कहा, "मैं सिर्फ़ हाथ सही। अपने इन्हीं हाथों में मेरा भाग्य है पर मेरा अजित कहाँ है।"

"अजित कौन?"

"मेरा पुत्र, मैं उस जवान को यहाँ छोड़ गया था।"

विद्वान् मुस्कराकर बोले, "तो वह अजित नहीं रहा, विजित हो चुका।"

करमसिंह ने कहा, "अजित नहीं रहा? किस से नहीं रहा? तुम्हारे घोड़े, हार्स-पावर से?"

विद्वान् ने कहा, "मनुष्य अपने से आगे जा रहा है। अपने से पार जा रहा है। वह एक घोड़े पर नहीं सैकड़ों घोड़ों पर है। रिवोल्यूशन है, पर तुम नहीं समझोगे।"

"हाँ।" करमसिंह ने कहा, "मैं नहीं समझूँगा।"

"घोड़े को मैं मालिक नहीं समझूँगा। नमस्कार।"

विद्वान् ने रोककर कहा, "अरे जा कहाँ रहे हो? जी आदमी? तुम पर तो लेख लिखना है।"

करमसिंह ने कहा, "मुझे आप के हार्स-पावर को जाकर देखना है। अजित उसी में गया है न?"

कामना-पूर्ति

नगर में एक महात्मा पधारे हैं। उनकी बड़ी महिमा है।

यज्ञदत्त पण्डित हेतराम वैश्य ने बड़ाई सुनी, तो घर जाकर महात्मा की बात सुनाई। सेठानी के पुत्र न था। यों खुशहाली थी, लेकिन कुल-दीपक के बिना सब फीका था। सम्पदा किसके लिए, गौरव किसके लिए, जब कुल का नाम चलाने को ही कोई न हो?

हेतराम ने कहा, "महात्मा सिद्ध पुरुष हैं। सब मनोरथ उनसे पूरे होंगे।"

सेठानी को विश्राम नहीं आता था। कई बार दान किया और कथा बैठाई। पर वह निराश हो चुकी थी। सोचा कि यह इतना कहते हैं तो एक महात्मा और सही।

इस तरह सेठ और सेठानी दोनों ने अगले रोज़ महात्मा की शरण में जाने का निश्चय किया।

उधर पण्डित-दम्पति को अर्थ की समस्या थी। सन्तति की दिशा में भगवान् का अशीर्वाद था—आठवाँ पुत्र गोद में था।

पर कलियुग में श्रद्धा का ह्रास है और यजमानों में धर्म-वृत्ति की हीनता है। इससे कठिनाई थी।

पण्डितानी ने कहा, "कुछ प्राप्ति हुई ?"

यज्ञदत्त पण्डित बोले, "क्या बतावें भई, अब म्लेच्छों का काल है। पर सुनो जी, नगर में एक बड़े योगिराज आये हैं। उन्हें सिद्धि प्राप्त है। उनसे दुःख निवेदन करना चाहिये।"

पण्डितानी गुस्से में बोली, "देखे तुम्हारे जोगराज! इन्हीं बातों में ये तीस वर्ष गुजार दिये। कहीं तो कोई सिद्धि-विद्धि काम आई नहीं। तुम्हारे पोथी-पत्रों का क्या करूँ ? कब से कह रही हूँ, परचून की एक दूकान ले बैठो, तो कुछ सहारा तो हो। बड़े-बड़े अपने भगतों की बात कहते हो, कोई इतना नहीं करा सकता ?"

पण्डित बोले, "लो भई, फिर वही तुमने अपना राग लिया। हम कहते हैं, महात्मा ऋद्धि-सिद्धि वाले हैं, चलकर देखने में अपना क्या हरज है ? भगवान् की लीला है। कृपा हो, तो क्या कुछ न हो जाय! विपता में ही श्रद्धा की पहिचान है। भगवान् की यह तो परीक्षा है। अरे भाई, तुम भाग्य से लड़ने को कहती हो। यह तो भगवान् का द्रोह है। भला, ऐसा कहीं होता है ? ब्राह्मण हैं, सो ब्राह्मण के योग्य कर्म हमारा है। दुकान-वुकान की बात परधर्म है। सुना नहीं, गीताजी में भगवान् ने कहा है :—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

पण्डितानीजी ने गीताजी की संस्कृत का मान नहीं किया। उन्होंने पति को खरी-खोटी सुनाई। अन्त में जैसे-तैसे तैयार हुईं कि अच्छा कल उस जोगी-महात्मा के पास चलेंगे।

सेठानी पण्डितानी के भाग्य को सराहती थीं कि घर उनका कैसा बाल-गोपालों से भरा-पूरा है। और बच्चे भी कैसे कि सब

गोरे ! विधाता भी अन्धा है। धन ही दिया, तो बच्चे के लिए क्यों तरसा रखा है ? उधर पण्डितानी सेठों के हाल को तरसती थी। खिलाने को कोई पास नहीं है और अपने दो जने कैसे ठाठ से रहते हैं। न क्लेश, न चिन्ता, न कलह। मुझ पर इतने सारे खाने को आ पड़े हैं, सो क्या करूँ ? एक वह हैं कि धन की कूत नहीं और पीछे झमेला भी कोई नहीं। जो कहीं धन होता और यह सब जञ्जाल न होता, तो कैसा आराम रहता।

वहीं नगर-सेठ की कन्या थी रूपमती। नाम को सत्य करने की लाज भगवान् को हो आये, जैसे इसी हेतु से माता-पिता ने उसका यह नाम रखा था। पति उसे अपने घर में नहीं रखता था। रूपमती ने सुना कि नगर में जो महात्मा आये हैं, उनकी वाणी अमोघ होती है। परिवार-वालों ने भी महात्मा का बड़ा माहात्म्य सुना। सबने तय किया कि हर प्रकार की भेंट से महात्मा को सन्तुष्ट करेंगे और निवेदन करेंगे कि हमारा कष्ट हरें, जिससे रूपमती को लावण्य प्राप्त हो।

कांचनमाला अति सुन्दर थी। देह की द्युति तप्त स्वर्ण की-सी थी। फिर भी पति उससे विमुख थे। उसने भी सुखी के सङ्ग महात्मा के पास जाने का निश्चय किया।

सब लोग महात्मा के पास गये। महात्मा कहाँ से चलकर पधारे हैं, कोई नहीं जानता था। न उनकी आयु का पता था, न इतिहास का। वाणी उनकी गम्भीर और मुद्रा शान्त थी। सदा हँसते रहते थे।

हर सन्ध्या को वह सब के बीच प्रवचन करते थे। विशेष बात के लिए उनसे अलग मिलना होता था। उस समय उनके पास एक

व्यक्ति रहता था। वह शिष्य होगा। यथावसर वह महात्मा के सूत्रों को समझाकर बताता भी था। शेष व्यवस्था भी उसी पर थी।

सेठ-सेठानी आये, तो उन्हें मालूम हुआ कि महात्मा के पास एक-एक को अलग जाना होगा। सो सेठ अकेले पहुँचे और दण्ड-वत करके कहा, "महाराज, मुझ पर दया हो।"

महात्मा मौन रहे।

सेठ बोले, "महाराज, आपकी दया से घर में सम्पदा की कमी नहीं है, पर पुत्र का अभाव है। सेठानी का मन उसी में रहता है। ऐसी कृपा कीजिए कि पुत्र प्राप्त हो।"

महात्मा हँसे, बोले, "धन जिसने दिया है, उसे दे दो और पुत्र माँग लो। पुराना लौटाओगे नहीं, तो नया कैसे पाओगे?"

सेठ समझे नहीं, तब शिष्य ने कहा, "महात्माजी कहते हैं कि पुत्र के लिए अपना सब धन भगवान् की प्राप्ति में लगाने को तैयार हो, तो तुम्हें वह प्राप्त हो सकता है।"

सेठ ने कहा, "महाराज, थोड़े-बहुत की बात तो दूसरी थी। सब धन के बारे में तो सेठानी से पूछकर ही कह सकता हूँ। घर में सम्पदा है, उसी के भोग को तो पुत्र की तृष्णा है।"

महात्मा ने कहा, "भोग में नहीं, यज्ञ में अपने को दो। उससे भगवान् प्रसन्न होंगे।" कहकर वह चुप हो गये और मुलाकात समाप्त हुई।

शिष्य ने कहा, "अब आप जा सकते हैं।"

सेठ ने वहीं माथा टेक दिया। बोला, "ऐसे में नहीं जाऊँगा। पुत्र का वरदान लेकर ही जाऊँगा।"

महात्मा ने कहा, "बिना दिये लेता है वह चोरी करता है, इससे कष्ट पाता है। भगवान् के राज्य में अन्याय नहीं है।"

सेठ के न समझने पर शिष्य ने बताया कि अपना सब धन छोड़ने पर तैयार न हो, तो महात्माजी की कृपा से फल पाओगे भी, तो इष्ट नहीं होगा।

सेठ कहने लगा, "महात्मा की कृपा अनिष्ट नहीं होगी, और मैं खाली नहीं जाऊँगा।"

महात्मा चुप रहे। तब शिष्य ने कहा, "सेठजी अब आप जा सकते हैं। महात्माजी की अप्रसन्नता विपता ला सकती है।"

किन्तु सेठ विफल होना नहीं जानते थे। वह वहीं माथा रगड़ने और गिड़गिड़ाने लगे।

इस पर शिष्य सेठानी को अन्दर ले आया। उसे देखकर सेठ सँभल गये, और सेठानी माथा टेककर एक ओर बैठकर बोली, "महाराज, मुझ पर दया करो कि जिससे मेरी गोद सूनी न रहे।"

महात्मा ने कहा, "सम्पदा के भोग के लिए पुत्र चाहती हो?"

सेठानी ने प्रसन्न होकर कहा, "हाँ, महाराज!"

महात्मा बोले, "माई, भोग सब भगवान् का है। आदमी के पास यज्ञ है। उसका धन उसे दे डालो, फिर खाली होकर माँगोगी, तो वह सुनेगा।"

सेठानी ने कहा, "देने के तो ये मालिक हैं, महाराज!"

सेठ कुशल व्यक्ति थे। बोले, "सेठानी, हम दोनों महात्माजी के चरण पकड़कर यहीं पड़े रहेंगे। कभी तो इन्हें दया होगी। मुख-मण्डल पर नहीं देखती हो, स्वयं भगवान् की ज्योति विराजती है।" यह कहकर सेठ और सेठानी दोनों साष्टाङ्ग गिर गये और महात्मा के चरण पकड़ने की कोशिश की। पर पैर को छूना था कि झटके से उन्होंने हाथ खींच लिये। मानो जीती बिजली से हाथ छू गया हो।

सेठ-सेठानी भयभीत होकर बोले, "महाराज, हमारा अपराध क्षमा हो।"

महात्मा मुस्करा दिये। शिष्य ने कहा, "अब आप जा सकते हैं।"

सेठ-सेठानी बोले, "महाराज, हम अपराधी हैं। तो भी आपकी दया हो जाय तो—"

महात्मा ने कहा, "देगा, वही पायेगा। सब देगा, वह सब पायेगा। है, सो उसी का प्रसाद है। इसमें सन्तोष सच है, तृष्णा झूठ।" कहकर महात्मा चुप हो गये।

सेठ-सेठानी फिर भी हाथ जोड़कर खड़े रहे, तो महात्मा बोले, "प्रार्थी की परीक्षा होगी—जाओ।"

शिष्य उसके बाद पण्डित यज्ञदत्त को लेकर पहुँचे।

नमस्कार कर पण्डितजी ने कहा, "यह नियम योग्य नहीं है कि पति को पत्नी से अलग होकर यहाँ आना पड़े। पण्डितानी के बिना मैं कुछ भी निवेदन नहीं कर सकूँगा।"

महात्मा हँस दिये। तब शिष्य पण्डितानी को भी ले आए। पण्डितानी ने प्रणाम करके बताया कि पण्डित कुछ काम नहीं करते हैं और आठवाँ बच्चा गोद में है। महाराज ऐसा जतन बताओ कि अब और बालक न हों और घर धन-धान्य से भर जाय।

पण्डित बीच में कुछ कहना चाहते थे, पर महात्मा की मुस्कराहट में कुछ ऐसी मोहिनी थी कि पत्नी की बात को वहीं तर्क से छिन्न-विच्छिन्न करने की उत्कंठा उनकी सहसा मन्द हो गयी।

महात्मा ने कहा, "भगवद्-उपासना से बड़ा कर्म क्या है? ब्राह्मण का वही कर्म है।"

पण्डितानी बोली, "महाराज, मैं ही जानती हूँ कि घर में

कैसे चलता है। दो पैसे का सिलसिला हो जाय, तो मैं भी भगवान् को याद करने का समय पाजाऊँ।"

महात्मा गम्भीर वाणी में बोले, "कुछ न पाकर अपना सब दे सको, तो सब पा जाओगी।"

पण्डितानी शास्त्रों की गूढ़ बात रोज ही सुना करती थी। समझती थी कि वे रीती थैली हैं। विश्वास से फूल जाती हैं, भीतर हाथ डालो तो कुछ भी नहीं मिलता। बोली, "महाराज, आये साल सिर पर एक प्राणी बढ़ जाता है। इधर ये शास्तर के सिवाय दूसरे किसी काम का नाम नहीं लेते। ऐसे कैसे काम चलेगा? आपको बड़ा महात्मा सुनती हूँ। तो मेरा तो चोला बदल दो, तो बड़ा उपकार हो।"

शिष्य ने कहा, "धन चाहती हो?"

"हाँ महाराज, मैं कुछ और नहीं चाहती। फिर चाहें, दिन-रात ये शास्तर में रहें। मुझे कुछ मतलब नहीं। धन हो और ये बालक न हों।"

महात्मा बोले, "बालक उसी के हैं जिसका सब है। ये दे दो, वह ले लो।"

शिष्य ने कहा, "महात्माजी पूछते हैं कि बालकों को भगवान् के नाम पर तुम लोग छोड़ सकते हो?"

पण्डित और पण्डितानी इस पर एक दूसरे को देखने लगे। बोले, "महाराज, बालकों को छोड़ना कैसे होगा? और भगवान् के नाम पर उन्हें कहाँ छोड़ा जायगा?"

महात्मा बोले, "भगवान् सर्वव्यापी हैं। अपने से छोड़ना उनके नाम छोड़ना है।"

पण्डित-दम्पति चुप रहे और शिष्य भी कुछ नहीं बोले। तब महात्मा ने आगे कहा, "अंगीभूत नहीं है, वह अपना नहीं है। अंगीकृत को अपना मानना गृहस्थ की मर्यादा है। पर बालक अमानत हैं, सम्पत्ति नहीं। सम्पति परिग्रह है। पाँच वर्ष से ऊपर के बालकों की ममता छोड़ो। अमानत का हिसाब दो, तब ही नया ऋण माँग सकते हो।"

पण्डित ने पूछा, "महाराज, क्या करना होगा ?"

महात्मा ने कहा, "तुम जानते हो, भगवद्-अर्पण।"

इससे समाधान नहीं हुआ। पण्डितानी बोली, "महाराज, कष्ट हमें अर्थ का है। उसका उपाय बताइए।"

महात्मा हँसते हुए बोले, "इस हाथ दो, उस हाथ लो। भगवान् का देने में चूकने से पाने से रहना होगा।"

पण्डितानी बोली, "पहेली मत बुझवाओ, महाराज ! कुछ दया हो तो हमारा सँकट मेटो।" कहकर पण्डितानी वहीं रोने लगी और पण्डित भी गिड़गिड़ा आये।

उन्हें आग्रही देखकर महात्मा बोले, "जो अकेले में देगा, वह सब के बीच पावेगा। लेकिन जाओ, भगवान् देगा और परीक्षा लेगा।"

शब्दों से नहीं, किन्तु महात्मा की वाणी से दम्पति को बहुत ढाढ़स हुआ और वे दोनों प्रणाम करके चले गये।

अनन्तर रूपमती वहाँ आई। साथ के थाल को आगे सरका कर, उसने माथा धरती से लगाया। शिष्य ने रूमाल थाल पर से हटा दिया। महात्मा मुस्कराये और उसने थाल एक ओर रख दिया।

रूपमती बोली, "महाराज, मुझे सब दिया, तब ऐसा असमर्थ

क्यों बनाया कि पति-गृह भी मैं मुँह न दिखा सकूँ ? महाराज आशीर्वाद दीजिये कि मैं असुन्दर न रहूँ और पति को पा जाऊँ।"

महात्मा बोले, "देह असुन्दर वरदान है। क्योंकि जगत् की आँखें उस पर नहीं जातीं। तुम भाग्यवान् हो माता !"

रूपमती ने कहा, "महाराज, अपने लिये नहीं, पति के लिए रूप चाहती हूँ।"

महात्मा बोले, "पति द्वार है, इष्ट परमात्मा है। सौन्दर्य तो द्वार पर अटकता है।"

रूपमती प्रार्थना के स्वर में बोली, "महाराज, मेरा नारी-जन्म निरर्थक है। पति विमुख हों, तब परमात्मा के सम्मुख मुझसे कैसे हुआ जाएगा ?"

महात्मा बोले, "तुम भी उसी दरबार में अरदास भेजो। जिसका कोई नहीं, कुछ नहीं, उसका वह है रखने वाला यहाँ गँवाता है। सब खो सकोगी ?"

"हाँ, महाराज, पति के लिये क्या नहीं खो सकूँगी। लेकिन...।"

महात्मा मुस्कराये।

शिष्य अब माता-पिता को भी अन्दर ले आया।

महात्मा ने उनसे कहा, "इसके लिये तुम सब खो सकते हो ?"

नगर-सेठ ने कहा, "महाराज, कितना आपको चाहिये ?"

महात्मा ने कहा, "संख्या नहीं, तोल नहीं, परिमाण नहीं, उतना मुझे चाहिये। मालिक को हिसाब से दोगे ? याद नहीं कि तुम बस रोकड़िया हो ?"

नगर-सेठ ने कहा, "महाराज, लाख, दो लाख, दस लाख—।"

महात्मा बोले, "अरे, करोड़ों के मोल कन्या की असुन्दरता तुमने पायी है। अब लाख की बात करते हो ?"

नगर-सेठ बोले, "कन्या का दुःख हमसे देखा नहीं जाता। उसकी माता—"

माता सिर झुकाये बैठी थी, उसकी ओर देखते हुए महात्माजी ने कहा, "कन्या के या तुम्हारे पास कुछ भी बचेगा, तो वही तुम्हारी प्रार्थना भगवान् के पास पहुँचने में बाधा हो जायगा।"

माता ने कहा, "महाराज की जो आज्ञा।"

महात्मा गम्भीर वाणी में बोले, "मुँह की नहीं, दर्द की प्रार्थना उसे मिलती है। दर्दी कुछ पास नहीं रखता। सब फेंक देता है।"

सुनकर नगर-सेठ ने कहा, "महाराज!—"

संकेत पर शिष्य ने थाल वहीं ला रखा।

महात्मा बोले, "यह ले जाओ। जगत् की आँख की ओट में दो; और धन नहीं, अपने को दो। अपने को बचाना और धन देना अपने को बिगाड़ना है। इससे जाओ, आँसुओं में अपने को दो। अभाव सब कहीं है, भूख सब कहीं है। ले जाओ और सब उस ज्वाला में डाल दो। वही है भगवान् का यज्ञ। याद रखना, हाथ देते हों तब मन रोता हो। बिना आँसू दान पाप है। जाओ, कुछ न रखोगे, तो सब पा जाओगे।"

कन्या और उसकी माता और पिता के चित की शँका गई न थी। दीन भाव से बोले, "महाराज!—"

महात्मा बोले, "पाना चाहेगा, सो पछताएगा। पर जाओ, पाओ और परीक्षा दो।"

सुनकर तीनों प्रणत भाव से चले गये।

अनन्तर कान्चनमाला महात्मा की कुटी में आई और तनिक सिर नवा कर बैठ गयी। उसकी आदत थी कि सबको अपनी ओर

देखता हुआ पाये। जैसे कुछ पल इस प्रतीक्षा में रही। फिर बोली, "महाराज, पति मुझसे विमुख हैं, मैं क्या करूँ ?"

महात्मा ने कहा, "भगवान् ने तुम्हें रूप दिया। अधिक और क्या तुम्हें सहायक हो सकता है ?"

कान्चनमाला बोली, "रूप आरम्भ में सहायक था। अब तो वही बाधक है !"

महात्मा बोले, "बाधक है उसी को फेंक दो।"

काञ्चनमाला ने अविश्वास से महात्मा की ओर देखते हुए कहा, "रूप को फेंककर मैं कहाँ रह जाऊँगी महाराज ? पति को खो चुकी हूँ, ऐसे तो अपने को भी खो दूँगी।"

महात्मा ने कहा, "खो सको तो फिर क्या चाहिए ? लेकिन रूप पर विश्वास रख कर अविश्वास क्यों करती हो ?"

"क्या करूँ, महाराज ! पति बिना सब सूना है। इस रूप ने उन्हें अविश्वासी बनाया है।"

महात्मा गम्भीर हो गये। बोले, "मिला है उसके लिए कृतज्ञ होना सीखो। कृतज्ञ आगे माँगता नहीं, मिले पर झुकता है !"

कान्चनमाला अनाश्वस्त भाव से बोली, "मेरी बिथा हरो, महाराज ! नहीं तो जाने मैं किस मार्ग पर जाऊँगी।"

महात्मा ने कहा, "जाओ, पति को पाओ। लेकिन परमात्मा के मार्ग में अपने को खोकर जो पाओगी, वही रहेगा। पर जाओ और जानो।"

इसके कुछ ही दिन बाद महात्मा वहाँ से अपना आसन उठा गये।

वर्ष होते न होते देखा गया कि महात्मा के प्रसाद से सब ने सब पाया है।

सेठानी को पुत्र मिला, पण्डित के घर धन बरसा, रूपमती का नाम सार्थक हो गया और कान्चनमाला पति को आकृष्ट कर सकी।

इसको भी चार वर्ष हो गये हैं। महात्मा का अब पता नहीं है। यहाँ सब उन्हें याद करते हैं और फिर उनकी आवश्यकता अनुभव करते हैं।

सेठ जी को पुत्र मिला, पर सेठानी दूर होने लगी। मानो कोई अपरिचित उनके बीच सुख में साझी होने को आ पहुँचा है। सेठानी व्यस्त रहती है, नौकर बढ़ गये हैं। उनसे काम लेने और डाँटने का काम भी बढ़ गया है। जब देखो, वैद्य-डाक्टर की ही बात। सेठ जी के सुख की व्यवस्था में भी कमी आ गयी है। सेठानी अब दूकान से लौटने पर प्रतीक्षा करती नहीं मिलती। न सुख-दुःख की बात ही उनके पास सेठ से कहने को विशेष रह गयी है। बात करेंगी, तो बच्चे की ही। बात क्या शिकायत होती है कि यह नौकर ठीक नहीं है, डाक्टर बदल दो, बच्चे की अमुक चीज़ नहीं लाये, वैद्य जी ने क्या कहा, आदि-आदि। सेठ जी घर में अकेले पड़ गये हैं।

सेठानी को स्वयं चैन नहीं है। वह रात-दिन जी-जान से विनोद की परिचर्या में रहती है। फिर भी कुछ न कुछ उसे होता ही रहता है। हर घड़ी उसे शंका घेरे रहती है। विनोद जब तक आँख से ओझल रहता है तब तक वह आधे दम रहती है।... और फिर एक लड़का, जाने कपूत निकले कि सपूत। एक तो और हो। लड़की हो तो अच्छा। जाने महात्मा कहाँ गये? बस, भगवान् एक और दे दें।

पण्डितानी रात-दिन धन की हिफ़ाजत में रहती है। बैंक में सूद नहीं उठता, कर्ज में जोखिम है। जायदाद ले लो, नहीं कुछ

भर लेना चाहिये। पर पण्डित जी को जाने क्या हो गया है। अँगरखे की जगह सिल्क के कुरते ने ले ली है और....: वह सोचती है कि क्यों अब सीधे मुँह नहीं बोलते ? पहले दबते थे, अब बात-बात में डाँट देते हैं ! सोने भी वक्त पर नहीं आते। न घर का ध्यान है, न बच्चों का। लड़के अवारा हुए जाते हैं। धन क्या मिला, फजीहत हो गई। जाने महात्मा कहाँ गये ? जो मिलें, तो इनका इलाज पूछूँ।

रूपमती पति को पा गई। पर चार साल हो आने पर भी भगवान् की जाने क्या देन है कि उसकी गोद सूनी है। उसके पति कान्तिचरण इस ओर से निश्चिन्त ही नहीं, बल्कि सन्तति को अनावश्यक मानते हैं। बालक बिना घर क्या ? पर ये हैं कि इन्हें मेरे सिवा कुछ सूझता ही नहीं। कहते हैं, बालक होने पर स्त्री पति से परे हो जाती है। मैं अपने जी की इन्हें क्या बताऊँ ? जाने महात्मा कहाँ गये ? मिलते, तो उनकी शरण जाती।

कान्चनमाला के पति ने सौन्दर्य को समझा। विमुखता उसकी हट गयी। यह सौन्दर्य ग़रीबी में कुम्हला न जाय, यह चिन्ता उसे सताने लगी। वह दिन-रात जी-तोड़ परिश्रम करता। प्रयत्न में रहता कि मेरी आर्थिक संकट की झुलस कान्चनमाला तक न पहुँचे। वह रोज सौन्दर्य-प्रसाधन की अनेक सामग्रियाँ खरीदता। वह चाहता कि कान्चनमाला कान्चनमयी होकर रहे। चाहे मेरा सर्वस्व लुट जाय। और वास्तव में उसका सर्वस्व लुट रहा था। यह सब कान्चनमाला की निगाह की ओट में किया जा रहा था, पर कान्चनमाला जानती थी। वह देखती कि पति सूखते जा रहे हैं, गृहस्थी अर्थ के बोझ से दब रही है। वह घबरा जाती और सोचती कि जाने महात्मा कहाँ चले गये ? मिलते तो गर्व छोड़ कर उनसे कुछ माँगती।

सेठ-सेठानी, परिडत-परिडतानी, रूपमती और कान्चनमाला सभी अपने प्राप्य से असन्तुष्ट थे। महात्मा का दिया अब उनकी समझ में न देने के बराबर था। वे अब कुछ और चाह रहे थे, कुछ और माँग रहे थे।

पर महात्मा नहीं आये।

एक गौ

हिसार और उसके आस-पास के हिस्से को हरियाना कहते हैं। वहाँ के लोग खूब तगड़े होते हैं, गाय-बैल और भी तन्दुरुस्त और क़द्दावर होते हैं। वहाँ की नस्ल मशहूर है।

उसी हरियाने के एक गाँव में एक जमींदार रहता था। दो पुश्त पहले उसके घराने की अच्छी हालत थी। घी-दूध था, बाल-बच्चे थे, मान-प्रतिष्ठा थी। पर धीरे-धीरे अवस्था बिगड़ती गई। आज हीरासिंह को यह समझ नहीं आता है कि अपनी बीबी, दो बच्चे, खुद, और अपनी सुन्दरिया गाय की परवरिश कैसे करे ?

राज की अमलदारी बदल गई है, और लोगों की निगाहें भी फिर गई हैं। शहर बड़े से और बड़े हो गये हैं और वहाँ ऐसी ऊँची-ऊँची हवेलियाँ खड़ी होती जाती हैं कि उनकी ओर देखा नहीं जाता है। कल-कारखाने और पुतलीघर खड़े हो गये हैं। बाइसिकलें और मोटरें आ गई हैं। इनसे जिन्दगी तेज पड़ गई है और बाजार में मँहगी आ गई है। इधर गाँव उजाड़ हो गये हैं और खुशहाली की जगह बेचारगी फैल रही है। हरियाने के बैल खूबसूरत तो अब भी मालूम होते हैं, और उन्हें देखकर खुशी भी होती है; लेकिन,

अब उनकी उतनी माँग नहीं है। चुनांचे हीरासिंह भी अपने बाप-दादों के समान जरूरी आदमी अब नहीं रह गया है। हीरासिंह को बहुत-सी बातें बहुत कम समझ में आती हैं। वह आँख फाड़ कर देखना चाहता है कि यह क्या बात है कि उसके घराने का महत्त्व इतना कम रह गया है। अन्त में उसने सोचा कि यह भाग्य है, नहीं तो और क्या ?

उसकी सुन्दरिया गाय डील-डौल में इतनी बड़ी और इतनी तन्दुरुस्त थी कि लोगों को ईर्ष्या होती थी। उसी सुन्दरिया को अब हीरासिंह ठीक-ठीक खाना नहीं जुटा पाता था। इस गाय पर उसे गर्व था। बहुत ही मोहब्बत से उसे उसने पाला था। नन्हीं बछिया थी, तब से वह हीरासिंह के यहाँ थी। हीरासिंह को अपनी गरीबी का अपने लिए उतना दुख नहीं था, जितना उस गाय के लिए। जब उसके भी खाने-पीने में तोड़ आने लगी तो हीरासिंह के मन को बड़ी बिथा हुई। क्या वह उसको बेच दे ? उसी गाँव के पटवारी ने दो सौ रुपये उस गाय के लिए लगा दिए थे। दो सौ रुपये थोड़े नहीं होते। लेकिन अव्वल तो सुन्दरिया को हीरासिंह बेचे कैसे ? इसमें उसकी आत्मा दुखती थी। फिर इसी गाँव में रहकर सुन्दरिया दूसरे के यहाँ बँधी रहे और हीरासिंह अपने बाप-दादों के घर में बैठा टुकुर-टुकुर देखा करे, यह हीरासिंह से कैसे सहा जायगा।

उसका बड़ा लड़का जवाहरसिंह बड़ा तगड़ा जवान था। उन्नीस वर्ष की उम्र थी, मसें भीगी थीं, पर इस उमर में अपने से ड्यौढ़े को वह कुछ नहीं समझता था। सुन्दरिया गाय को वह मौसी कहा करता था। उसे मानता भी उतना ही था। हीरासिंह के मन में दुर्दिन देखकर कभी गाय के बेचने की बात उठती थी तो जवाहर सिंह के डर से रह जाता था। ऐसा हुआ तो जवाहर डंडा उठाकर,

रार मोल लेकर, उसको फिर वहाँ से खोल कर नहीं ले आयगा, इस का भरोसा हीरासिंह को नहीं था। जवाहरसिंह उजड्ड ही तो है। सुन्दरिया के मामले में भला वह किसी की सुनने वाला है ? ऐसे नाहक रार के बीज पड़ जायँगे, और क्या ?

पर दुर्भाग्य भी सिर पर से टलता न था। पैसे-पैसे की तंगी होने लगी थी। और तो सब भुगत लिया जाय पर अपने आश्रित जनों की भूख कैसे भुगती जाय ?

एक दिन जवाहरसिंह को बुलाकर कहा, "मैं दिल्ली जाता हूँ। वहाँ बड़ी-बड़ी कोठियाँ हैं, बड़े-बड़े लोग हैं। हमारे गाँव के कितने ही आदमी वहाँ हैं। सो कोई न कोई नौकरी मिल ही जायगी। नहीं तो तुम्हीं सोचो, ऐसे कैसे काम चलेगा ? इतने तुम देख-भाल रखना। वहाँ ठीक होने पर तुम सब लोगों को भी बुला लूँगा।"

दिल्ली में जाकर एक सेठ के यहाँ चौकीदारी की नौकरी उसे मिल गई। हवेली के बाहर ड्यौढ़ी में एक कोठरी रहने को भी मिल गई !

एक रोज सेठ ने हीरासिंह से कहा, "तुम तो हरियाने की तरफ के रहने वाले हो ना। वहाँ की गाय बड़ी अच्छी होती है। हमें दूध की तकलीफ है। उधर की एक अच्छी गाय का बन्दोबस्त हमारे लिए करके दो।"

हीरासिंह ने पूछा, "कितने दूध की और कितनी कीमत की चाहिए ?"

सेठ ने कहा, "कीमत जो मुनासिब हो देंगे, पर दूध थन के नीचे खूब होना चाहिए। गाय खूब सुन्दर तगड़ी होनी चाहिए।"

हीरासिंह सुन्दरिया की बात सोचने लगा। उसने कहा, "एक है तो मेरी निगाह में। पर उसका मालिक बेचे तब है।"

सेठ ने कहा, "कैसी गाय है ?"

हीरासिंह ने कहा, "गौ तो ऐसो है कि माँ के समान है। और दूध देने में कामधेनु। पन्द्रह सेर दूध उसके तले उतरता है।"

सेठ ने पूछा, "तो उसका मालिक किसी शर्त पर नहीं बेच सकता ?"

हीरासिंह, "उसके दो सौ रुपये लग गये हैं।"

सेठ, "दो सौ ! चलो, पाँच हम ज्यादा देंगे।

पाँच रुपये और ज्यादा की बात सुनकर हीरा को दुःख हुआ। वह कुछ शर्म से और कुछ ताने में मुसकराया भी।

सेठ ने कहा, "ऐसी भी क्या बात है। दो-चार रुपये और बढ़ती दे देंगे। बस ?"

हीरासिंह ने कहा, "अच्छी बात है। मैं कहूँगा।"

हीरासिंह को इस घड़ी दुःख बहुत हो रहा था। एक तो इसलिए कि वह जानता था कि गाय को बेचने के लिए वह राजी होता जा रहा है। दूसरे दुःख इसलिए भी हुआ कि उसने सेठ से सच्ची बात नहीं कही।

सेठ ने कहा, "देखो, गाय अच्छी है और उसके तले पन्द्रह सेर दूध पक्का है, तो पाँच-दस रुपये के पीछे बात कच्ची मत करना।"

हीरासिंह ने तब लज्जा से कहा, "जी, सच्ची बात यह है कि गाय वह अपनी ही है।

सेठ जी ने खुश होकर कहा, "तब तो फिर ठीक बात है। तुम तो अपने आदमी ठहरे। तुम्हारे लिए जैसे दो-सौ वैसे दोसौ पाँच। गाय कब ले आओगे ? मेरी राय में आज ही चले जाओ।"

हीरासिंह शरम के मारे कुछ बोल नहीं सका। उसने सोचा था

कि गौ आखिर बेचनी तो होगी ही। अच्छा है कि वह गाँव से दूर कहीं इसी जगह रहे। रुपये पाँच कम, पाँच ज्यादा, यह कोई ऐसी बात नहीं। पर गाँव के पटवारी के यहाँ तो सुन्दरिया उससे दी न जायगी। उसने सेठ के जवाब में कहा, "जो हुकम, मैं आज ही चला जाता हूँ। लेकिन एक बात है, मेरा लड़का जवाहर राजी हो जाय, तब है। वह लड़का बड़ा अक्खड़ है और गाय को प्यार भी बहुत करता है।"

सेठ ने समझा, यह कुछ और पैसे पाने का बहाना है। बोले, "अच्छा, दो सौ पाँच लेना। चलो दो सौ सात सही। पर गाय लाओ तो। दूध पन्द्रह सेर पक्के की शरत है।"

हीरासिंह लाज से गड़ा जाने लगा। वह कैसे बताये कि रुपये की बात बिलकुल नहीं है। तिस पर ये सेठ तो उसके अन्नदाता हैं। फिर ये ऐसी बातें क्यों करते हैं? उसे जवाहर की तरफ से सचमुच शंका थी। लेकिन इन गरीबी के दिनों में गाय दिन पर दिन एक समस्या होती जाती थी। उसको रखना भारी पड़ रहा था। पर अपने तन को क्या काटा जाता है? काटते कितनी वेदना होती है। यही हीरासिंह का हाल था। सुन्दरिया क्या केवल एक गौ थी? वह तो गौ माता थी, उसके परिवार का अंग थी। उसी को रुपये के मोल बेचना आसान काम न था। पर हीरासिंह को यह ढारस था कि सेठ के यहाँ रहकर गौ उसकी आँखों के आगे तो रहेगी। सेवा-टहल भी यहाँ वह गौ की कर लिया करेगा। उसकी टहल करके यहाँ उसके चित्त को कुछ तो सुख रहेगा। तब उसने सेठ से कहा, "रुपये की बात बिलकुल नहीं है सेठ जी! वह लड़का जवाहर ऐसा ही है। पूरा बेबस जीव है। खैर, आप कहें, तो आज मैं जाता हूँ। उसे समझा-बुझा सका, तो गौ को लेता

ही आऊँगा। उसका नाम हमने सुन्दरिया रखा है।"

"हाँ, लेते आना। पर पन्द्रह सेर की बात है ना? इतमीनान हो जाय, तब सौदा पक्का रहेगा। कुछ रुपये चाहिए तो ले जाओ।"

हीरासिंह बहुत ही लज्जित हुआ। उसकी गौ के बारे में बे-ऐतबारी उसे अच्छी नहीं लगती थी। उसने कहा, "जी, रुपये कहाँ जाते हैं, फिर मिल जायँगे। पर यह कहे देता हूँ कि गाय वह एक ही है। मुकाबले की दूसरी मिल जाय, तो मुझे जो चाहे कहना।"

सेठ साहब ने स्नेह-भाव से सौ रुपये मँगाकर उसी वक्त हीरासिंह को थमा दिये और कहा, "देखो हीरासिंह, आज ही चले जाओ, और गाय कब तक आ जायगी? परसों तक?"

हीरासिंह ने कहा, "यहाँ से पचास कोस गाँव है। तीन रोज़ तो आने-जाने में लग जायँगे।"

सेठ जी ने कहा, "पचास कोस? तीस कोस की मन्जिल एक दिन में की जाती है। तुम मुझको क्या समझते हो?"

तीस कोस की मञ्जिल सेठ पैदल एक दिन छोड़ तीन दिन में भी कर लें तो हीरासिंह जाने। लेकिन वह कुछ बोला नहीं।

सेठ ने कहा, "अच्छा, तो चौथे दिन गाय यहाँ आ जाय।"

हीरासिंह ने कहा, "जी, कम-से-कम पाँच पूरे रोज़ तो लगेंगे ही।"

सेठजी ने कहा, "पाँच?"

हीरासिंह ने विनीत भाव से कहा, "दूर जगह है सेठजी!"

सेठजी ने कहा, "अच्छी बात है। पर देर मत लगाना, यहाँ काम का हर्ज होगा, जानते हो? खैर, इन दिनों तुम्हारी तनख्वाह न काटने को कह देंगे।"

हीरासिंह ने जवाब में कुछ नहीं कहा, और वह उसी रोज चला भी गया।

ज्यों-त्यों जवाहरसिंह को समझा-बुझाकर गाय वह ले आया। देखकर सेठ बड़े खुश हुए। सचमुच वैसी सुन्दर स्वस्थ गौ उन्होंने अब तक न देखी थी। हीरासिंह ने खुद उसे सानी-पानी किया, सहलाया और अपने ही हाथों उसे दुहा। दूध पन्द्रह सेर से कुछ ऊपर ही बैठा। सेठजी ने खुशी से दो सौ के ऊपर सात रुपये और हीरासिंह को दिये और अपने घोसी को बुलाकर गौ उसके सुपुर्द की।

रुपये तो लिये, लेकिन हीरासिंह का जी भरा आ रहा था। जब सेठजी का घोसी गाय को ले जाने लगा, तब गाय उसके साथ चलना ही नहीं चाहती थी। घोसी ने झल्लाकर उसे मारने को रस्सी भी उठाई, लेकिन सेठजीने मना कर दिया। वह गौ इतनी भोली मालूम होती थी कि सचमुच घोसी का हाथ भी उसे मारने को हिम्मत से ही उठ सका था। अब जब वह हाथ इस भाँति उठ करके भी रुका रह गया तब घोसी को भी खुशी हुई; क्योंकि गौ की आँखों के कोये में गाढ़े आँसू भर रहे थे। वे आँसू धीमे-धीमे बहने भी लगे।

हीरासिंह ने कहा, "सेठजी, इस गौ की नौकरी पर मुझे कर दीजिए, चाहे तनख्वाह में दो रुपये कम कर दीजिएगा।"

सेठजी ने कहा, "हीरासिंह, तुम्हारे जैसा ईमानदार चौकीदार हमें दूसरा कौन मिलेगा? तनख्वाह तो हम तुम्हारी एक रुपया और भी बढ़ा सकते हैं, पर तुमको ड्योढ़ी पर ही रहना होगा।"

उस समय हीरासिंह को बहुत दुःख हुआ। वह दुःख इस बात

से और दुःसह हो गया कि सेठ का विश्वास उस पर है। वह गौ को सम्बोधन करके बोला, "जाओ, बहिनी ! जाओ।"

गौ ने सुनकर मुँह जरा ऊपर उठाकर हीरासिंह की तरफ देखा, मानो पूछती हो, "जाऊँ ? तुम कहते हो जाऊँ ?"

हीरासिंह उसके पास आ गया। उसने उसके गले पर थपथपाया, माथे पर हाथ फेरा, गलबन्ध सहलाया और काँपती वाणी में कहा, "जाओ बहिनी सुन्दरिया, जाओ। मैं कहीं दूर थोड़े हूँ। मैं तो यहाँ ही हूँ।"

हीरासिंह के आशीर्वाद में भीगती हुई गौ चुप खड़ी थी। जाने की बात पर फिर जरा मुँह ऊपर उठा उठी और भरी आँखों से उसे देखती हुई मानो पूछने लगी, "जाऊँ ? तुम कहते हो जाऊँ ?"

हीरासिंह ने थपथपाते हुए पुचकार कर कहा, "जाओ बहिनी ! सोच न करो।" फिर घोसी को आश्वासन देकर कहा, "लो, अब ले जाओ, अब चली जायगी।" यह कहकर हीरासिंह ने गाय के गले की रस्सी अपने हाथों उस घोसी को थमा दी।"

गाय फिर चुपचाप डग-डग घोसी के पीछे-पीछे चली गई। हीरासिंह एकटक देखता रहा। उसने आँसू नहीं आने दिये। हाथ के नोटों को उसने जोर से पकड़ रखा। नोटों पर वह मुट्ठी इतनी जोर से कस गई कि अगर उन नोटों में जान होती, तो बेचारे रो उठते। वे कुचले-कुचलाये मुट्ठी में बँधे रह गये।

उसके बाद सेठजी वहाँ से चले गये और हीरासिंह भी चल कर अपनी कोठरी में आ गया। कुछ देर वह उस हवेली की ड्यौढ़ी के बाहर शून्य भाव से देखता रहा। भीतर हवेली थी, बाहर बिछा शहर था, जिसके पार खुला मैदान और खुली हवा थी और उनके

बीच में आने-जाने का रास्ता छोड़े हुए, फिर भी उस रास्ते को रोके हुए, यह ड्योढ़ी थी। कुछ देर तो वह इस तरह देखा किया, फिर मुँह झुकाकर हुक्का गुड़गुड़ाने लगा। अनबूझ भाव से वह इस व्याप्त-विस्तृत शून्य में देखता रह गया।

लेकिन अगले दिन गड़बड़ उपस्थित हुई। सेठजी ने हीरासिंह को बुला कर कहा, "यह तुम मुझे धोखा तो नहीं देना चाहते? गाय के नीचे से सबेरे पाँच सेर भी तो दूध नहीं उतरा। शाम को भी यही हाल रहा है। मेरी आँखों में तुम धूल झोंकना चाहते हो?"

हीरासिंह ने बड़ी कठिनाई से कहा, "मैंने तो पन्द्रह सेर से ऊपर दुह कर आपके सामने दे दिया था।"

"दे दिया होगा। लेकिन अब क्या बात हो गई? जो न तुमने उसे कोई दवा खिला दी हो?"

हीरासिंह का जी दुःख से और ग्लानि से कठिन हो आया। उसने कहा, "दवा मैंने नहीं खिलाई और कोई दवा दूध ज्यादा नहीं निकलवा सकती। इसके आगे और मैं कुछ नहीं जानता।"

सेठजी ने कहा, "तो जाकर अपनी गाय को देखो। अगर दूध नहीं देती, तो क्या मुझे मुफ्त का जुर्माना भुगतना है?"

हीरासिंह गाय के पास गया। वह उसकी गरदन से लगकर खड़ा हो गया। उसने गाय को चूमा, फिर कहा, "सुन्दरिया, तू मेरी रुसवाई क्यों कराती है? तेरे बारे में मैं किसी से धोखा करूँगा?"

गाय ने उसी भाँति मुँह ऊपर उठाया, मानो पूछा, "मुझे कहते हो? बोलो, मुझे क्या कहते हो?"

हीरासिंह ने घोसी से कहा, "बंटा लाओ तो।"

घोसी ने कहा, "मैं आध घण्टा पहले तो दुह चुका हूँ।"

हीरासिंह ने कहा, "तुम बंटा लाओ।"

उसके बाद साढ़े तेरह सेर दूध उसके तले से पक्का तौल कर हीरासिंह ने घोसी को दे दिया। कहा, "यह दूध सेठजी को दे देना।" फिर गौ के गले पर अपना सिर डालकर हीरासिंह बोला, "सुन्दरी! देख, मेरी ओछी मत कर। तू यहाँ है, मैं दूर हूँ, तो क्या इसमें मुझे सुख है?"

गौ मुँह झुकाये वैसे ही खड़ी रही।

"देखना सुन्दरिया! मेरी रुसवाई न करना।" गद्‌गद् कण्ठ से यह कहकर उसे थपथपाते हुए हीरासिंह चला गया।

पर गौ अपनी बिथा किससे कहे? कह नहीं पाती, इसी से सही नहीं जाती। क्या वह हीरासिंह की रुसवाई चाहती है? उसे सह सकती है? लेकिन दूध नीचे आता ही नहीं, तब क्या करे? वह तो चढ़-चढ़ जाता है, सूख-सूख जाता है, गौ बेचारी करे तो क्या?

सो फिर शिकायत हो चली। आये दिन बखेड़े खड़े होने लगे। शाम इतना दूध दिया, सबेरे इससे भी कम दिया। कल तो चढ़ा ही गई थी। इतने उनहार-मनुहार किये, बस में ही न आई। गाय है कि बवाल है। जी की एक साँसत ही पाल ली।

सेठ ने कहा, "क्यों हीरासिंह, यह क्या है?"

हीरासिंह ने कहा, "मैं क्या जानता हूँ—"

सेठ ने कहा, "क्या यह सरासर धोखा नहीं है?"

हीरासिंह चुप रह गया।

सेठ ने कहा, "ऐसा ही है तो ले जाओ अपनी गाय और रुपये मेरे वापिस करो।"

लेकिन रुपये हीरासिंह गाँव भेज चुका था, और उसमें से काफ़ी रकम वहाँ के मकान की मरम्मत में काम आ चुकी थी। हीरासिंह फिर चुप रह गया।

सेठजी ने कहा, "क्या कहते हो ?"

हीरासिंह क्या कहे ?

सेठजी ने कहा, "अच्छा तनख्वाह में से रकम कटती जायगी और जब पूरी हो जायगी, तो गाय अपनी ले जाना।"

हीरासिंह ने सुन लिया और सुनकर वह अपनी ड्योढ़ी में आ गया। उस ड्योढ़ी के इधर हवेली है, उधर शहर बिछा है, जिसके पार खुला मैदान है और खुली हवा है। दोनों ओर टुक-देर शून्यभाव से देख कर वह हुक्का गुड़गुड़ाने लगा।

अगले दिन सबेरे से ही एक प्रश्न प्रकार-प्रकार की आलोचना-विवेचना का विषय बना हुआ था। बात यह थी कि सबेरे-ही-सबेरे बहुत-सा दूध ड्योढ़ी में बिखरा हुआ पाया गया। उससे पहली शाम सुन्दरी गाय ने दूध देने से बिल्कुल इन्कार कर दिया था। उसे बहलाया गया, फुसलाया गया, धमकाया और पीटा भी गया था। फिर भी वह राह पर न आई थी। अब यह इतना सारा दूध यहाँ कैसे बिखरा है ? यह यहाँ आया तो कहाँ से आया ?

लोगों का अनुमान था कि कोई दूध लेकर ड्योढ़ी में आया था, या ड्योढ़ी में जा रहा था, तभी उसके हाथ से यह बिखर गया है। अब वह दूध लेकर आने वाला आदमी कौन हो सकता है ? लोगों का गुमान यह था कि हीरासिंह वह व्यक्ति हो सकता है। हीरासिंह चुपचाप था। वह लज्जित और सचमुच अभियुक्त मालूम होता था। हीरासिंह के दोषी होने के अनुमान का कारण यह भी था कि हवेली के और नौकर उससे प्रसन्न न थे। वह नौकर के ढंग का

नौकर ही नहीं था। नौकरी से आगे बढ़कर स्वामि-भक्ति का भी उसे चाव था जो कि नौकरी के लिए असह्य दुर्गुण नहीं तो और क्या है ?

सेठजी ने पूछा, "हीरासिंह, यह क्या बात है ?"

हीरासिंह चुप रह गया।

सेठजी ने कहा, "इसका पता लगाओ, हीरासिंह। नहीं तो अच्छा न होगा।"

हीरासिंह सिर झुकाकर रह गया। पर कुछ ही देर में उसने सहसा चमत्कृत होकर पूछा, "रात गाय खुली तो नहीं रह गई थी ? जरूर यही बात है। आप इसकी खबर तो लीजिए।"

घोसी को बुलाकर पूछा गया तो उसने कहा कि ऐसी चूक कभी उससे जन्म-जीते-जी हो सकती ही नहीं है, और कल रात तो हुजूर, पक्के दावे के साथ गाय ठीक तरह से बँधी रही है।

हीरासिंह ने कहा, "ऐसा हो नहीं सकता"—

सेठजी ने कहा, "तो फिर तुम्हारी समझ में क्या हो सकता है।"

हीरासिंह ने स्थिर भाव से कहा, "गाय रात को आकर ड्योढ़ी में खड़ी रही है और अपना दूध गिरा गई है।"

यह कहकर हीरासिंह इतना लीन हो रहा कि मानो गौ के इस दुष्कृत पर अतिशय कृतज्ञता में डूब गया हो।

सेठजी ऐसी अनहोनी बात पर कुछ देर भी नहीं ठहरे। उन्होंने कहा, "ऐसी मसनुई बातें औरों से कहना। जाओ, खबर लगाओ कि वह कौन आदमी है, जिसकी यह करतूत है।"

हीरासिंह ड्योढ़ी में चला गया। ड्योढ़ी इस हवेली और उस दुनिया के दरमियान है और उसके लिए घर बनी हुई है। और

क्षणेक फिर शून्य में देखते रहकर सिर झुका कर वह हुक्का गुड़-गुड़ाने लगा।

रात को जब वह सो रहा था, उसे मालूम हुआ कि दरवाज़े पर कुछ रगड़ की आवाज़ आई। उठकर दरवाज़ा खोला कि देखता है, सुन्दरिया खड़ी है। इस गौ के भीतर इन दिनों बहुत बिथा घुटकर रह गई थी। वह तकलीफ बाहर आना ही चाहती थी। हीरासिंह ने देखा—मुँह ऊपर उठाकर उसकी सुन्दरिया उसे अभियुक्ता की आँखों से देख रही है। मानो अत्यन्त लज्जित बनी क्षमा-याचना कर रही हो, कहती हो, "मैं अपराधिनी हूँ। लेकिन मुझे क्षमा कर देना। मैं बड़ी दुखिया हूँ।"

हीरासिंह ने कहा, "बहिनी, यह तुमने क्या किया ?"

कैसा आश्चर्य! देखता क्या है कि गौ मानव-वाणी में बोल रही है, "मैं क्या करूँ ?"

हीरासिंह ने कहा, "बहिन, तुम बेवफाई क्यों करती हो ? सेठ को अपना दूध क्यों नहीं देती हो ? बहिनी! वह अब तुम्हारे मालिक हैं।" कहते-कहते हीरासिंह की वाणी काँप गई, मानो कहीं भीतर इस मालिक होने की बात के सच होने में उसको खुद शंका हो।

सुन्दरी ने पूछा, "मालिक! मालिक क्या होता है ?"

हीरासिंह ने कहा, "तुम्हारी कीमत के रुपये सेठ ने मुझे दिये थे। ऐसे वह तुम्हारे मालिक हुए।"

गौ ने कहा, "ऐसे तुम्हारे यहाँ मालिक हुआ करते हैं! मैं इस बात को जानती नहीं हूँ। लेकिन तुम मुझे प्रेम करते हो, सो तुम मेरे क्या हो ?"

हीरासिंह ने धीर-भाव से कहा, "मैं तुम्हारा कुछ भी नहीं हूँ।"

गौ बोली, "तुम मेरे कुछ भी नहीं हो, यह तुम कहते हो? तुम झूठ भी नहीं कहते होगे। तुम जो जानते हो, वह मैं नहीं जानती। लेकिन, मालिक की बात के साथ दूध देने की बात मुझ से तुम कैसी करते हो? मालिक हैं, तो मैं उनके घर में उनके खूँटे से बँधी रहती तो हूँ, तो भी उनकी ड्योढ़ी से बाहर नहीं हूँ। पर दूध जो मेरे उतरता ही नहीं, उसका क्या करूँ? मेरे भीतर का दूध मेरे पूरी तरह बस में नहीं है। कल रात वह आप-ही-आप इतना-सारा दूध यहाँ बिखर गया। मैं यह सोचकर नहीं आई थी। हाँ, मुझे लगता है कि बिखरेगा तो वह यों ही बिखर जायगा। तुम ड्योढ़ी में रहोगे तो शायद ड्योढ़ी में बिखर जायगा। ड्योढ़ी से पार चले जाओगे तो शायद भीतर-ही-भीतर सूख जायगा। मैं जानती हूँ, इससे तुम्हें दुःख पहुँचता है। मुझे भी दुख पहुँचता है। शायद यह ठीक बात नहीं हो। मेरा यहाँ तक आ जाना भी ठीक बात नहीं हो। लेकिन, जितना मेरा बस है, मैं कह चुकी हूँ। तुमने रुपये लिये हैं, और सेठ मेरे मालिक हैं, तो उनके घर में उनके खूँटे से मैं रह लूँगी। रह तो मैं रही ही हूँ। पर उससे आगे मेरा वश कितना है, तुम्हीं सोच लो। मैं गौ हूँ, रुपये के लेन-देन से अधि-कार का और प्रेम का लेन-देन जिस भाव से तुम्हारी दुनिया में होता है, उसे मैं नहीं जानती। फिर भी तुम्हारी दुनिया में तुम्हारे नियम मानती जाऊँगी। लेकिन, तुम मुझे अपने हृदय का इतना स्नेह देते हो, तब तुम मेरे कुछ भी नहीं हो और मैं अपने हृदय का दूध बिलकुल तुम्हारे प्रति नहीं बहा सकती—यह बात मैं किस-विध मान लूँ? मुझ से नहीं मानी जाती, सच, नहीं मानी

जाती। फिर भी जो तुम कहोगे, वह मैं सब-कुछ मानूँगी।"

हीरासिंह ने विषाद-भरे स्वर में पूछा, "तो मैं तुम्हारा क्या हूँ?"

गौ ने कहा, "सो क्या मेरे कहने की बात है? फिर शब्द मैं विशेष नहीं जानती। दुःख है, वही मेरे पास है। उससे जो शब्द बन सकते हैं, उन्हीं तक मेरी पहुँच है। आगे शब्दों में मेरी गति नहीं है। जो भाव मन में हैं, उसके लिए संज्ञा मेरे जुटाये जुटती नहीं। पशु जो मैं हूँ। संज्ञा तुम्हारे समाज की स्वीकृति के लिए जरूरी होती होगी; लेकिन, मैं तुम्हारे समाज की नहीं हूँ। मैं निरी गौ हूँ। तब मैं कह सकती हूँ कि तुम मेरे कोई हो, कोई न हो, दूध मेरा किसी और के प्रति नहीं बहेगा। इसमें मैं या तुम या कोई शायद कुछ भी नहीं कर सकेंगे। इस बात में मुझ पर मेरा भी बस कैसे चलेगा? तुम जानते तो हो, मैं कितनी परबस हूँ।"

हीरासिंह गौ के कण्ठ से लिपटकर सुबकने लगा। बोला, "सुन्दरिया! तो मैं क्या करूँ?"

गौ ने कम्पित वाणी में कहा, "मैं क्या कहूँ? मैं क्या कहूँ?"

हीरासिंह ने कहा, "जो कहो, मैं वही करूँगा सुन्दरी! रुपये का लेन-देन है; लेकिन, मेरी गौ, मैंने जान लिया कि उससे आगे भी कुछ है। शायद उससे आगे ही सब-कुछ है। जो कहो वही करूँगा, मेरी सुन्दरिया!"

गौ ने कहा, "जो तुम से सुन रही हूँ, उसके आगे मेरी कुछ चाहना नहीं है। इतने में ही मेरी सारी कामनाएँ भर गई हैं। आगे तो तुम्हारी इच्छा है और मेरा तन है। मेरा विश्वास करो, मैं कुछ नहीं माँगती और मैं सब सह लूँगी।"

सुनकर हीरासिंह बहुत ही विह्वल हो आया। उसके आँसू रोके

न रुके। वह गौ की गर्दन से लिपट कर तरह-तरह के प्रेम-सम्बोधन करने लगा। उसके बाद हीरासिंह ने बहुत-से आश्वासन के वचनों के साथ गौ को विदा किया।

अगले सबेरे उसने सेठजी से कहा कि आप मुझ से जितने महीने की चाहें कसकर चाकरी लीजिए; पर गौ आज ही यहाँ से हमारे गाँव चली जायगी। रुपये जब आपके चुकता हो जायँ, मुझ से कह दीजिएगा। तब मैं भी छुट्टी ले जाऊँगा।

सेठजी की पहले तो राजी होने की तबियत न हुई, फिर उन्होंने कहा, "हाँ, ले जाओ, ले जाओ। पर पूरा ढाई सौ रुपये का तावान तुम्हें भरना पड़ेगा।"

हीरासिंह तावान भरने को खुशी से राज़ी हुआ और गौ को उसी रोज ले गया।

काल-धर्म

महाराज विजयभद्र विजय पर विजय पाते चले गए। यहाँ तक कि समस्त आर्य-खण्ड एकच्छत्र उनके चक्रवर्तित्व के नीचे आ गया। प्रतिस्पर्धी-जगत् में उनके लिए कहीं कोई शेष नहीं रह गया। कुछ काल-पर्यन्त इस प्रकार चक्रवर्तित्व करने पर जीवन में उन्हें विरसता अनुभव हो आई और उन्होंने राज-पुत्र से कहा, "पुत्र, राज्य तुम सम्भालो, हम सत्य की शोध में जाएँगे।"

पुत्र ने विकल भाव से पूछा, "कहाँ जाएँगे, महाराज ?"

पिता ने कहा, "झूठ में से सत्य की ओर जाना होगा। उसी की शोध में निकलना होगा।"

युवराज ने पूछा, "सत्य की शोध में महाराज को कहाँ जाना होगा।"

महाराज ने कहा, "गिरि, वन, विजन, कहाँ-कहाँ जाना होगा, यह कौन कह सकता है।"

राजकुमार ने तर्क-पूर्वक कहा, "सत्य तो सब कहीं है, उसके लिए फिर कहीं से और कहीं को जाना क्यों होगा, पिता जी ?"

महाराज ने खिन्न स्मित से कहा, "इसी अपने दुर्भाग्य के कारण जाना होगा, वत्स, कि मैं चक्रवर्ती हूँ। नगर, ग्राम मेरे

इस चक्रवर्तित्व के दोष से मेरे लिए निषिद्ध हो गए हैं। जहाँ-जहाँ जन हैं, वहाँ ही वहाँ यह जनाधिपता भी मेरे लिए है। वह मिथ्या नहीं है क्या ? मैं जानाधिप होके मिथ्या हूँ, वत्स, इसी से सत्य के लिए मुझे विजनता में जाना होगा।"

युवराज ने कहा, "आप का आदेश ही यहाँ का तो सत्य है। प्रजा-जन को निराश्रित करके आप कहीं न जाइए, पिता जी ! अपने सत्य के लिए उन्हें उनके सत्य से वञ्चित न कीजिए।"

पिता के स्वर में विषाद और भी सघन हो आया। बोले, "पुत्र बड़े होगे तब तुम जानोगे। पदार्थों को बटोर कर उनके बीच हमने रुकना चाहा, यही हमारी भूल है। क्या कभी कोई रुक सका है ? और जिधर हर कोई चाहे-अनचाहे, जाने-अनजाने, चला जा रहा है, वह सत्य की ओर नहीं है, तो क्या है।"

युवराज ने कहना चाहा, "महाराज !"

किन्तु महाराज ने नहीं सुना, और वह रोके न रुके। केश-श्वेत होने से पहले-पहले सब राजा-वैभव, ऐश्वर्य, पुत्र-कलत्र, राज-रानी और दास-दासियों को छोड़ कर वह विजन-वन में चले गए।

* * *

उनके पीछे राज में तीन शक्तियों का उदय हुआ। एक युव-राज जो महाराज विजय-भद्र के उत्तराधिकारी थे; दूसरे सेना-धिपति खड्गसेन; और तीसरे राजगुरु चक्रधर।

युवराज के पास पैत्रिक अधिकार था, खड्गसेन के पास सेना का बल था, और चक्रधर के हाथ में न्याय-संस्था थी।

युवराज ने देखा कि आगे संघर्ष है। वह अपने संबन्ध में अविश्वासी नहीं थे, इससे वह संघर्ष नहीं चाहते थे। अतः सेना-

धिपति खड्गसेन के पास जाकर युवराज ने कहा, "मैं राज-पद छोड़ने को तैयार हूँ, सेनानी ! आप राजगुरु से मिलकर यथा-योग्य सन्धि और परामर्श कर लें। प्रजा-जन में क्षोभ क्षण-क्षण बढ़ रहा है और किसी समय भी व्यवस्था-भंग की आशंका है।"

सेनाधिपति ने युवराज से कहा, "राज-गुरु से चाहें तो आप मिलें, मिल कर आप दोनों मुझे प्रमुख मानलें तो ठीक है। नहीं तो शस्त्र से निर्णय होगा।"

सुनकर युवराज राज-गुरु के पास पहुँचे और उनसे भी यही कहा। राज-गुरु ने कहा, "राज्य मानव-धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार चलना चाहिए, उन सिद्धान्तों का मेरे ग्रन्थ मानव-शास्त्र में परिपूर्ण प्रतिपादन है। तुम और सेनाधिपति आपस में मन्त्रणा कर लो। तुम में से जो मानव-धर्म के अनुसार चलने को तैयार हो और जनता के सामने उस शास्त्र के अनुसार एवं उसके प्रणेता की आज्ञा के अधीन चलने की शपथ ले, वही पक्ष मुझे मान्य है। क्या तुम उसके लिए तैयार हो ? राजा तुम भले रहो, पर समग्र राज-प्रकरण मुझ से चले।"

युवराज ने कहा, "यशस्वी महाराज विजयभद्र सत्य-शोध के लिए विजन वन में गए हैं, लेकिन मुझे यह बता गए हैं कि सत्य यद्यपि उन्हें प्राप्त नहीं है, तो भी उस सम्बन्ध में यह प्राप्त अवश्य है कि वह किसी शास्त्र में बँधा हुआ नहीं है। शासक को पुस्तक की ओर नहीं, प्रजा की ओर देखकर चलना चाहिए।"

राज-गुरु ने कहा, "तो मैं सेनाधिपति से पूछ देखूँगा। वह भी मानव-धर्म शास्त्र के संरक्षण में आने में असमर्थ होंगे, तो मुझे तीसरे किसी योग्य व्यक्ति को देखना होगा। इस आर्य-खण्ड में राज शास्त्रानुकूल ही चल सकेगा।"

युवराज अपने महलों में लौट आए और अपने कर्त्तव्य के बारे में सोचने लगे। सोच-विचार कर पहले माता के पास गए। सब परिस्थिति उन्हें बताकर उनसे पूछा कि ऐसे समय मुझे क्या करना चाहिए ?

राज-माता ने कहा, "बेटा, अपने पिता को पा सको तो उनसे जाकर पूछो।"

पिता को पाना कब सम्भव था ? तब युवराज ने अपनी सहधर्मिणी के समक्ष यह समस्या रक्खी। कहा, "सेनाधिपति मुझ से ज्येष्ठ हैं, राज-गुरु तो गुरु-तुल्य हैं ही। उन दोनों में परस्पर स्पर्धा और विग्रह है, और मेरे प्रति भी वह विरोधी हैं। पिता तो राज-पाट के बन्धन में मुझे डाल गए, और स्वयं छुटकारा पा गए, किन्तु मुझे इसमें सुख नहीं है। यही ध्यान है कि पिता की यह धरोहर है, इसमें क्षति आई तो क्या यह मेरा दोष न होगा ? अब तुम बताओ, शुभे, मेरा क्या धर्म है ?"

रानी ने उत्तर को प्रश्न में रख कर पूछा, "क्षत्रिय का क्या धर्म है ?"

युवराज ने कहा, "क्षत्रिय नहीं, मनुष्य के धर्म की बात पूछो। लेकिन वही तो मैं भी पूछ रहा हूँ ?"

रानी ने किंचित् रुष्ट होकर कहा, "धर्म पदार्थ नहीं है। इससे निरपेक्ष भाव से उसका विचार नहीं हो सकता। स्वधर्म रूप में ही वह सच है। सुनते हो, तुम राजा हो ?"

राजपुत्र ने कहा, "पर शत्रु यहाँ कौन है, वल्लभे ? सेनाधिपति ने मुझे शिक्षा दी है। उनकी धारणा है कि मैं अनुभवहीन हूँ। केन्द्र में सेना का बल यदि क्षीण होगा तो प्रान्तों में विरोधी शक्तियाँ सिर उठा उठेंगी; मेरे स्वभाव को देखते हुए उन्हें आश्वासन नहीं

है कि मैं उस दुस्संयोग को टाल सकूँगा, या उठने पर दबा सकूँगा। उसी भाँति राजगुरु को निश्चय है कि राज्य का मंगल इसी में है कि पूरी शासन-नीति उनके हाथ में हो। इसमें सन्देह नहीं कि जनता पर उनका बहुत प्रभाव है। उनका वाक्-बल-प्रभूत है और उनमें संयोजक शक्ति भी है। जनता में उनका समर्थक दल जबर्दस्त है। गुरुजन मुझ से किसी प्रकार की शत्रुता रखने के कारण ही ऐसा सोचते हैं, यह मैं कैसे कह सकता हूँ। अभी तक वे मुझ पर प्रीति ही रखते आए हैं। इससे तुम किसको शत्रु देखती हो, और किसके दमन का परामर्श देती हो?"

रानी ने तेजस्वी वाणी में कहा, "उनको, जो तुम्हें हीन मानते हैं। क्या चक्रवर्ती महाराज विजयभद्र के तुम ही एकमात्र पुत्र नहीं हो? इससे राज्य भी तुम्हारा है। अपने प्रमाद में तुम उसे खो नहीं सकते।"

युवराज रानी की गरिमामय बात सुनकर हँसे। कहने लगे, "अनादि काल से तो कोई राजा होता नहीं प्राणाधिके, दूसरों को जीत कर एक दिन कोई राजा बन उठता है। मुझे जीत कर खड्ग-सेन राजा हो जायँगे तो उसके पुत्र के मुँह से क्या यह तर्क शोभा देगा? तुम भी वैसी ही हँसी की बात कह रही हो। तुम में क्या भाव नहीं होता कि यदि कहीं राज-काज के झंझट से छुट्टी पाकर हम दोनों अपने प्रेम को ही सार्थक करने के अर्थ जीवित रह सकते! शक्ति के पद पर बैठकर व्यक्ति को अपने प्रेम को सुखाते रहना होता है क्या तुम यह अनुभव नहीं करतीं?"

रानी ने कहा, "कुछ-कुछ करती हूँ। लेकिन तुम्हें इस तरह हारने न दूँगी। क्या तुम्हीं विजयभद्र के पुत्र नहीं हो, जिन्होंने अपने बाहुबल से समस्त आर्यावर्त का चक्रवर्तित्व सिद्ध किया? वन

जाने से पहले वह यह कर चुके थे, इस बात को क्यों भूलते हो ?"

युवराज फिर अधिक नहीं बोले, "एकान्त में जाकर विचार करने लगे। अनन्तर उन्होंने फिर प्राणपण से पिता की खोज की। सब खोजा, सब छाना। पर कहीं नहीं उनका पता चला।

युवराज खिन्न हो आए। मन में मुँह डाल फिर सोचते रहे। अन्त में सेनाधिपति और राजगुरु दोनों से एक साथ एक ही स्थान पर भेंट की और तीनों में सुदीर्घ मन्त्रणा हुई।

इस मन्त्रणा में से स्पष्ट हुआ कि युवराज संघर्ष से स्वयं बच कर अधिक से अधिक गृह-युद्ध को कुछ काल टाल ही सकते हैं, रोक न पायेंगे। सेना और न्याय के अध्यक्षों की महत्त्वाकांक्षाओं में एक-दूसरे के लिए जगह नहीं है।

इस पर युवराज सन्नद्ध हो गए और प्रभात होते-होते आज्ञा प्रचारित हो गई कि सेनाधिपति जयसेन को बनाया जाता है और न्याय-सचिव के लिए क्षेमकर को नियुक्त किया जाता है। यह भी आदेश है कि चौबीस घंटे के भीतर खड्गसेन राजधानी से बाहर चले जायँ। राजगुरु को अपने अहाते से बाहर निकलने का प्रतिषेध हुआ।

रात-भर युवराज काम में रहे और अन्तःपुर नहीं आए। सवेरे तक नई व्यवस्था पूरी कर दी गई। यथावश्यक आज्ञाएँ जारी हो गईं। तब युवराज प्रातःकाल रानी से मिले और उनको सब कथा सुनाई। सुनकर रानी स्तब्ध रह गई। कारण राज-माता महलों में अनुष्ठान करा रही थी। जो राजगुरु की देख-रेख में चल रहा था। राज-माता पुत्र के सम्बन्ध में आशङ्का से घिरी रहती थीं। उसी के कल्याण के निमित्त यह अनुष्ठान का विधान था। इससे रानी दुस्समाचार सुनकर शंकित हो गई।

युवराज ने कहा, "और उपाय न था, प्रिये ! किन्तु यह व्यतिरेक कुछ ही दिन के लिए है। अनन्तर गुरु चक्रधर और सेनापति खड्गसेन पर बन्धन नहीं रहेगा और आशा है वे फिर अपने स्थान पर आ जाएँगे ।"

किन्तु न खड्गसेन नगरी से बाहर हुए, न गुरु चक्रधर की प्रवृत्तियों पर मर्यादा डाली जा सकी। मन्त्रणा के टूटने पर दोनों ने अनुभव किया था कि युवराज चुप न बैठेंगे। अपने-अपने गुप्तचरों से दोनों ने यह भी जान लिया था कि युवराज रात में जाग रहे हैं, अन्तःपुर नहीं गए हैं। परिणाम यह हुआ कि एक ओर से राजाज्ञा प्रचारित हुई और दूसरी ओर से सेना और जनता की तरफ से विद्रोह की आवाज उठाई गई। भीतर ही भीतर गुरु चक्रधर और बलाधिप खड्गसेन मिल गये। इस प्रकार नगर में घमासान उपस्थित हुआ और तीन रोज तक अराजकता का राज रहा। कइयों की जानें गईं।

अन्त में चौथे रोज फिर मन्त्रणा हुई। फलस्वरूप युवराज, चक्रधर और खड्गसेन की सम्मिलित समिति ने शासनाधिकार ग्रहण किए। राजा युवराज हुए, किन्तु इस शर्त के साथ कि दो सदस्यों की सलाह के बिना वे कुछ नहीं कर सकते।

इस प्रकार राजतन्त्र की समाप्ति हुई और लोकतन्त्र का आरम्भ हुआ। लोकमत के निर्माता और असंगठित जनता के नेता चक्रधर, शस्त्रनायक खड्गसेन और राजकुल-परम्परा के प्रतिनिधि युवराज इन तीनों तत्त्वों के समवेत के हाथ शासन-सूत्र आ रहा।

इस तरह एक युग निकला। लेकिन काल-धर्म गतिशील है और सब में विकास होता है। शासन-संस्था भी अचल नहीं रह सकती। व्यक्ति से वर्ग में और वर्ग से विस्तृत लोकमत में शासन

को उठते जाना है। सो एक दिन यह हुआ कि युवराज को बताया गया कि वह अनावश्यक हैं। परम्परागत भाव से उनके नाम के साथ जो प्रतिष्ठा और महिमा लगी हुई थी, वह अवश्य-शासन कार्य में सहायक होती थी, पर अब उसकी आवश्यकता नहीं है। सेनाध्यक्ष और न्यायाध्यक्ष के नामों में भी अब उसी प्रकार की प्रतिष्ठा है। आपके लिये कोई विशेष विभाग नहीं है, आप तो प्रतीक मात्र हैं। अब शासन किसी प्रतीक पर निर्भर नहीं है। साथ ही उस प्रतीक को रखने में राज्य को बहुत व्यय करना पड़ता है। सबसे अपूर्व विशिष्ट और लोकोत्तर रूप देकर राजा को रखना आवश्यक होता है, अपने समकक्ष किसी राजा को प्रजा सह नहीं सकती। इससे जनता अपना पेट काट कर ऐसे राजा को पालती है, कि उसका वैभव देखकर वह स्वयं विस्मित हो सके और गद्‌गद होकर उसकी जय बोल उठे। राज्य-परम्परा ने यह दैन्य प्रजाजन में गहरा बिठा दिया है। युग अब आडम्बरहीन लोक-तन्त्र का है। इससे अन्य त्याग-पत्र देदें। हम सभा की ओर से आपके परिवार के लिए एक वृत्ति बाँध देंगे, जिससे निर्वाह में आपको अभी कठिनाई न हो, आगे—

युवराज ने कहा, "मैं अवश्य त्याग-पत्र दूँगा और वृत्ति की भी आवश्यकता नहीं है। हम सबके ही एक पेट है, दो हाथ हैं। इसलिए हमारी जीविका की भी चिन्ता आप न करें। यदि राज्य-परम्परा आज अनावश्यक है तो उसका अवशेष भी बचाए रखने का लोभ न करें।"

राजगुरु ने कहा, "यह कैसे होगा ? जनता तुम्हें विशिष्ट मानती आई है। तुम अपनी इच्छा से साधारण बनोगे तो भी अपनी आदत से लाचार जनता तुम्हें विशिष्ट ही मानेगी। बल्कि

तब उसके भाव में सचाई आजायगी। अभी तो दूर इस से विस्मय के कारण अपने राजा का वह आतंक मानती है। तुम एकाएक जनता में मिल जाओगे तब आत्मीय होने की वजह से उसमें तुम्हारे लिए सच्ची श्रद्धा पैदा होने लगेगी। ऐसे तो तुम हमारे शासन के लिए खतरा बन जाओगे। हमें वह मन्जूर नहीं है। या तो वृत्ति पाकर एक रईस की तरह से रहो, नहीं तो तुम्हें कारा-गार में रहना होगा। साधारण नागरिक बनकर हम तुम्हें नहीं रहने देंगे।"

युवराज ने हँसकर कहा, "लोकतन्त्र के प्रतिनिधि होकर आप लोक-सत्ता से भय क्यों खाते हैं? यदि भय है तो लोकतन्त्रता का दावा भी आपका सही नहीं है। अभी तो मैं ही राजा हूँ। त्याग-पत्र देने की इच्छा है तो इसी निमित्त कि साधारण नागरिक बनूँ। वह सम्भव नहीं है तो आप लोगों का शिकार जनता को मैं नहीं बनने दूँगा। जनता की आँखों में आप इसी दोष को बता-बता कर मेरे विरुद्ध रोष करा सकते हैं कि मैं राजा का पुत्र हूँ और राजसी ठाट-बाट में रहता हूँ। लेकिन आप जानते हैं कि आपके मन में उस ठाठ-बाट की आकांक्षा है, और मैं केवल उसे इसलिए सहता हूँ कि प्रजा के लिए वह अभी असह्य नहीं है। प्रजा का सेवक होकर मैं यदि राजा बनता हूँ तो राजोचित रूप में रहना भी मेरा कर्त्तव्य है। आप लोग मेरे और प्रजा के बीच में इसलिए हैं कि इस कृत्रिम अन्तर को बढ़ाएँ नहीं, बल्कि कम करें। राजा के चारों ओर एक अभिजात-वर्ग उठ खड़ा होता है। वह पीड़ित करता है, तो कभी प्रजा का नाम लेकर राजा को आतंक में रखना चाहता है। अभिजातवर्ग को अब मैं नहीं बढ़ने देना चाहता हूँ। मैं सीधा प्रजा के समक्ष हो जाना चाहता हूँ। कल नगर के बाहर

समस्त प्रजा को जमा होने दीजिए। वहाँ मैं प्रजा के हाथों में हूँगा। कारागार में मुझे डालने की उसकी माँग होगी तो वह भी मुझे स्वीकार होगी।"

राजगुरु इस पर प्रसन्न थे। बोले, "न्याय की वाणी लोकमत की वाणी है। मैं उसी का प्रतिनिधि होकर तुमसे त्यागपत्र माँगता था। कल तो नहीं, पर चार रोज़ में जन-सभा की व्यवस्था होगी। क्यों बलाधिप, चार दिन क्या आवश्यक नहीं हैं ?"

युवराज ने कहा, "हम आपस में झगड़ते हैं तो तत्काल हमें जनता के सामने अभियुक्त बनकर आ जाना चाहिए। हम और आप शासक नहीं, सेवक हैं। आपस के झगड़े को गहरा करने के लिए चार रोज़ का सुभीता पाने का हमें हक नहीं है। कल ही सभा निर्णय कर सकती है।"

बलाधिप बोले, "मेरे लिए एक दिन में उसकी व्यवस्था शक्य नहीं है"

युवराज ने कहा, "सेना और पुलिस को तो उसके सम्बन्ध में कुछ कष्ट नहीं करना है। फिर व्यवस्था की क्या बात है ? समान धरती पर हम सब मिलेंगे।"

राजगुरु ने कहा, "वह सम्भव नहीं है। बैठने की ठीक व्यवस्था करनी ही पड़ेगी। शान्ति-रक्षा के लिए सैनिक तैनात होंगे। मन्च और ध्वनि-क्षेपक की आवश्यकता होगी। आपको व्यवस्था सम्बन्धी बातों का परिचय नहीं है। चार रोज़ आवश्यक ही हैं।"

युवराज ने कहा, "चार रोज़ आपको अपने लिए आवश्यक हो सकते हैं। जनता तो सदा उद्यत है। उसको सीधा नहीं पहुँचेंगे, तो उस तक पहुँच ही नहीं सकेंगे। हमारे लिए इतना काफी है कि अपने आसनों से उतरें और जमीन पर आजाएँ, जहाँ सब चलते

हैं। न मन्च चाहिए न शान्तिरक्षक। शान्तिरक्षक बनकर ही तो हम यहाँ बैठे हैं, हमी खुद अशान्त हैं। जनता अशान्त थोड़ी-बहुत हो तो वह जरूरी ही है। आपकी व्यवस्था के भीतर आकर जनता के लोग अंक बन जाते हैं। मुझे जीवित-जागृत जनता चाहिए। उसके हार्दिक भाव चाहिए। मतों की संख्या कृत्रिम है। आप उसी के लिए न व्यवस्था चाहते हैं?"

इस पर बलाधिप ने गुरु को देखा, गुरु ने बलाधिप को कहा, "कल सभा नहीं होगी।"

युवराज ने कहा, "मैं तो कल तक भी नहीं ठहरने वाला हूँ। अभी जाकर कह दूँगा कि मेरे दो साथियों का मुझ पर विश्वास नहीं है। वे मुझे अपराधी ठहराते हैं। आओ भाइयो, उनसे मेरे अपराध सुनो और मुझसे उनकी सफाई माँगो। अपराधों को ओढ़कर मैं एक रात भी चैन से नहीं सो सकता हूँ।"

राजगुरु ने कहा, "वत्स, तुम अनुभवहीन हो। तुम राजा हो, लेकिन तुम्हारे पास नाम का ही बल है। सेना का बल बलाधिप के पास है। तन्त्र का बल मेरे पास है। सुनो, तुम इसी समय हमारे क़ैदी हो।"

युवराज ने हँसकर कहा, "देखने तो दीजिएगा कि क्या सचमुच ऐसा है।"

देखा गया तो बाहर सशस्त्र सैनिक घूम रहे थे।

राजगुरु ने कहा, "देख लिया? अब हम कहें वैसा तुम्हें करना उचित है।"

युवराज ने हँसकर कहा, "मैं समझता हूँ आपके पास इस समय अस्त्र भी हैं। तो भी मैं बाहर जाना चाहता हूँ।"

कहकर युवराज द्वार के बाहर गए।

बलाधिप ने कहा, "बाहर जाने में आपका अनिष्ट है।"

किन्तु युवराज ने सुना अनसुना किया और हँसते हुए वह आगे बढ़ गए।

घूमते सशस्त्र सैनिकों को कहा, "कहो भाई, क्या बात है? अच्छे तो हो?"

सुनकर सैनिकों ने युवराज को सैनिक प्रणाम किया।

युवराज आगे बढ़े। सैनिकों ने कहा, "महाराज, इससे आगे न जाइए।"

युवराज हँसते हुए बढ़ते आए, और उनमें से प्रमुख के कन्धे पर हाथ रखकर कहा, "वीरदेव, तुम्हें राज-रानी कब से याद करती हैं, आओ, उनसे भेंट करने चलोगे न?"

वीरदेव अप्रतिभ होकर अनायास युवराज के साथ हो लिए। उसके अधीनस्थ वहीं रह गए। रास्ते में युवराज ने वीरदेव से कहा, "देखो जी, मैं चाहता हूँ कि मैं तो छुट्टी पा जाऊँ और हम लोग कहीं अकेले जाकर रहें। तुम तो रानी को जानते हो। हमारे साथ रहोगे?"

इसी तरह युवराज अपने महलों में पहुँच गए और वीरदेव उनका अनुचर हो गया।

वीरदेव के द्वारा नगर में बात प्रचारित हो गई कि महाराज नगर के बाहर मैदान में जनता के समक्ष भाषण देंगे।

यह बात आग की तरह फैली और उसको दबाना सम्भव न हुआ। किन्तु अगले दिन प्रातःकाल सुन पड़ा कि महाराज बन्दी बनाकर यहाँ से पाँच मील दूर एक दुर्ग में भेज दिये गए हैं। इस पर जनता हक्की-बक्की होकर सब काम भूल गई। छोटी-मोटी टोलियों में इधर-उधर दिखाई देने लगी।

इसी समय नगर में घुड़सवार सैनिक गश्त करने लगे और पदाधिकारी जगह-जगह जाकर लोगों को समझाने लगे। इन प्रयत्नों से जनता के अनिश्चय को एक दिशा प्राप्त हुई और वह रोष में परिवर्तित होने लगी। जगह-जगह शान्ति-भङ्ग की घटनाएँ हुईं और जनता पर शस्त्र-प्रहार हुआ। इस पद्धति से, एक अतर्क्य भाव से जनता में संकल्प का उदय हुआ कि उस मैदान में अब सभा अवश्य होगी।

संक्षेप में सभा हुई और सिर फटे और गिरफ्तारियाँ हुईं और ज्ञात हुआ कि लोकतन्त्र शासन की असमर्थ पद्धति नहीं है।

विद्रोह शान्त हुआ। विज्ञापित हो गया कि राजतन्त्र का अब सदा के लिए नाश हो गया है। लोकतन्त्र चिरजीवी हो।

विद्रोह के दमन के अनन्तर बलाधिप खड्गसेन सत्ताधीश हुए और गुरु चक्रधर प्रधान सचिव नियुक्त किए गए।

इस प्रकार एक युग बीता। किन्तु काल-धर्म गतिशील है और सब में विकास होता है। शासन-पद्धति अचल नहीं रह सकती। मालूम हुआ शस्त्र-बल ही अतीत का स्मारक है, उसके आधार पर चलने वाला शासन उस काल की याद दिलाता है, जब मनुष्य असभ्य था। शस्त्र-बल पशु-बल है। नीति-बल ही सही शासन का आधार होना चाहिए। इस प्रकार के विचारों का प्रचार इतनी तीव्रता से हुआ कि सुना गया कि एक सिपाही ने सत्ताधीश खड्सेन की हत्या कर दी है। तब शासन-चक्र गुरु चक्रधर के आधीन हुआ। उन्होंने मानव-धर्म शासन की शिक्षा को सब शालाओं में अनिवार्य कर दिया और एक ऐसी शासन-व्यवस्था को जन्म दिया जहाँ सत्ताधिकारी नीति और शासन दोनों का एक ही साथ उद्गम समझा जाता था। ईश्वर अब ओट में हो गया

क्योंकि वह अनावश्यक था। मानव-धर्म शास्त्र के प्रणेता ब्रह्मर्षि चक्रधर नीति के स्रोत थे और राज-राजर्षि महा-महिम चक्रधर छत्र-दण्डधारी शासन के प्रतीक थे।

उनका राज्य अखण्ड भाव से चल रहा है। किन्तु काल-धर्म गतिशील है और सब में विकास होता है। शासन प्रणाली को उस तक बदलते जाना है जब तक उसका केन्द्र सब में नहीं फैल जाता और प्रत्येक व्यक्ति आत्मशासित नहीं होता। किन्तु मानव-धर्माचारी शासनासीन हैं, और काल-धर्म शायद धीमी गति से चलता है।

वह बेचारा

एक वन की घोर आच्छन्नता में एक साँप रहता था। विकराल और सुन्दर, वह अन्य वनचर जन्तुओं में एक साथ ही भय और मोह उपजाता था। उसकी काली देह पर मानो नक्काशी का काम हो रहा था और फण पर तो जैसे मणियाँ ही टँकी थीं। यह सर्प बड़ा विषधर भुजंग था, किन्तु वह अपने भीतर के मन से बड़ा भला भी था। क्रोध के समय उसकी गर्म सिसकारी से आस-पास की घास भी जल जाती थी। किन्तु अन्यथा वह अलग-भाव से अपने स्थान पर ही पड़ा रहता था। और तब कीड़े-मकोड़े तक को उसकी देह के साथ क्रीड़ा करते हुए संकोच न होता था।

उसी अरण्य में अकस्मात् एक रोज़ खेलता हुआ एक देव बालक आन पहुँचा। वह किलकारी भरता हुआ उछाह से भागा चला जा रहा था। उछाह ही उछाह था, शंका की छाया उसके मन के आस-पास भी कहीं नहीं थी। बालक अनुपम सुन्दर था। उसके हाथ में वंशी थी, जिसको वह गिल्ली के डंडे की तरह सहज भाव से पकड़े घुमाता हुआ जा रहा था। मालूम नहीं, वह बालक इस

विकट अरण्य के कलेजे में कहाँ से उतरकर कहाँ पहुँचने के लिए इस भाँति निश्शंक लपका जा रहा था।

बालक के मन में तो क्रीड़ा के उल्लास के अतिरिक्त कुछ न था। किन्तु भागते में उसका पैर भुजंग की पूँछ पर पड़ गया। इस पर भुजंग ने फण उठाया और बालक दो डग भी न भर पाया था कि उसे डस लिया।

उस सर्प के विष का प्रभाव, कि देखते-देखते बालक वहीं गिर गया। पलक मारते में वह ठण्डा भी हो गया। वेदना की कोई पुकार उसके मुँह से नहीं निकली। मानो हँसी-हँसी में वह लोट पड़ा हो। देव-बालक का मुख अब भी तनिक विकृत न हुआ था।

साँप ने जब गिरे हुए बालक को देखा तब वह अवसन्न रह गया। उस बालक का सौन्दर्य साँप के मन को बर्छी-सा चुभने लगा। उस बालक के मुख पर अपने को दंश करने वाले के लिए भी कोई मैल अथवा किसी प्रकार की अभियोग की छाया नहीं दीख पड़ती थी। साँप मन-ही-मन अति दुःखी हुआ। वह बालक की समूची देह पर मानों पहरा देता हुआ गुंजलक भरकर उसे घेर कर वहाँ बैठ गया। बैठा ही रहा। दिन भर हो गया, रात भर हो गई। दो दिन हुए, तीन हुए, चार हुए, लेकिन वह साँप बिना कुछ अपनी सुध लिये बालक के चारों ओर अपनी देह का कुण्डल डाले ही पड़ा रहा।

अन्त में बालक की देह विकृत होने लगी। इस भूल के लिए शनैः-शनैः जब जगह ही न रही कि इस देह में बालक की आत्मा कहीं हो सकती है तब साँप वहाँ से चल दिया। उसने तब बड़े कातर भाव से प्रार्थना की, कि ओ मेरे परमात्मा ! मैं क्या करूँ ?

क्रोध मुझे आ जाता है, लेकिन मैं किसी का अनिष्ट करना नहीं चाहता। तैंने मुझ में यह क्या विष रख दिया है कि मैं ज़रा मुँह छूता हूँ कि दूसरे की जान चली जाती है! उस देवोपम बालक का अनिष्ट क्या मैं तनिक भी सह सकता हूँ? मेरे परमात्मा! अपना यह विष तू मुझ में से ले ले। हाय! यह मेरा वश क्यों नहीं है कि मैं यदि क्रोध से नहीं बच सकता तो दूसरे की जान लेने से तो बचूँ। किन्तु तैंने तो मेरे मुँह में ही महाकाल बैठा दिया है। तू यह ज़हर मुझ में से खींच ले।

अगले दिन परमात्मा का भेजा हुआ एक सँपेरा वहाँ आ निकला। उसके हाथ में झोली थी। वह जंगल में आया और बैठ कर बीन बजाने लगा। साँप बीन की बैन में बँधा हुआ सँपेरे के सामने पहुँचा और फण खोल कर मोहमुग्ध, वहाँ खड़ा रह गया। बीन में फूँक फेंकता हुआ सँपेरा उसे बजाता ही गया और साँप अधिकाधिक ग्रस्त भाव से फण हिला-हिलाकर उसमें विभोर होता गया। इसी भाँति उसके फण के आगे बीन बजती रही और सर्प हतचेत, मानो कृतज्ञ, अपने को सँपेरे के हाथ में देता गया। सँपेरे ने आश्वस्त प्रेम के भाव से उसे शनैः शनैः पूरी तरह काबू में कर लिया।

जब उसके ज़हर के दाँत उसके मुँह में से खींचकर सँपेरे ने निकाले तब वह सर्प पीड़ा से मूर्छित हो रहा था। उस पीड़ा में भी, जब तक वह एकदम चेतनाशून्य ही नहीं हो गया तब तक, साँप सँपेरे का आभारी ही बना रहा। इसके लिए मानो वह उसका ऋणी ही बना था कि उसे पीड़ा देकर यह व्यक्ति उसमें से उसके अनिच्छित अंश को बहिष्कृत कर दे रहा है। मूर्छित सर्प को अन्त में झोली में डालकर सँपेरा नगर की ओर चल पड़ा।

मूर्छा से जगने पर साँप ने देखा कि उसके चारों ओर अन्धकार है। उसने टटोल कर यह भी देखा कि चारों ओर से वह बन्द है, मार्ग कहीं भी नहीं है। शरीर के ज़ोर से उसने चेष्टा भी की कि किसी ओर मार्ग खुल कर उसे प्राप्त हो, किन्तु चारों ओर फण को टकाराकर और लौट-लौट आकर उसने प्रतीति पा ली कि नहीं, मार्ग रुद्ध ही है। ऊपर भी नीला आसमान नहीं है, वही काला अँधेरा है जो पार्श्व में है। और उसके चारों ओर जिस वस्तु का अवरोध है वह एकदम अपरिचित है, दृढ़ है। उस वस्तु के साथ उसका हेल-मेल का सम्बन्ध नहीं बनेगा, जाने किस निर्जीव पदार्थ की वह बनी है!

झोली लेकर सँपेरा नगर में अपनी रोज़ी के लिए निकला। वह बीन बजाकर साँप का खेल दिखाएगा, और इस भाँति नाज, पैसा और रोटी पा लेगा। बच्चे साँप का खेल देखेंगे और अपनी अम्मा-चाची से रोटी लाकर सँपेरे की झोली में डाल देंगे। साँप को देखकर उन्हें बड़ा कुतूहल होगा। डर भी होगा, पर सँपेरे के रहते अपने को डर वह ज्यादा नहीं होने देंगे। कंकड़ी फेंककर उस साँप से वह छेड़-छाड़ भी कर लेंगे। हाँजी, उसे वे छू भी क्यों नहीं लेंगे। साँप का फण उन बालकों को बड़ा विचित्र मालूम होगा। चित्र में बने साँप के फण से जो उनमें आश्चर्य होता है उससे कहीं अधिक समाधानकारक आश्चर्य उन्हें उस सचमुच के साँप के फण को देखकर होगा। पर उन बालकों के लिए उस मदारी सँपेरे के सामने के साँप के फण में भी कुछ वैसा ही निश्शंक, निरापद, उत्कंठित विस्मय का भाव होगा जैसा कागज़ पर बने हुए साँप के चित्र में होता है।

जब ढँकना खुला, और सर्प को माथे के ऊपर प्रकाश का

आभास हुआ, तब वह उत्कण्ठा के साथ ऊपर की ओर फण उठा-कर लपका। किन्तु पाया, सामने तो उसका उपकारी सँपेरा ही उसके आगे करके बीन बजा रहा है। इस पर वह साँप फण हिला-हिलाकर अपनी कृतज्ञता और अपना विमोह जतलाने लगा। वह झूम-झूमकर बीन के बैन पीता हुआ अपने उपकारी के समक्ष फण खोले खड़ा रहा।

सँपेरे ने ऐसी अवस्था में साँप को हाथ से टोकरी में से निकाल कर बाहर धरती पर छोड़ दिया।

साँप ने देखा—यह तो उसको घेरे लोग के लोग जमा हैं। उनमें बालक भी हैं। यह बात साँप की समझ में नहीं आई। यह सब उससे क्या चाहते हैं? वह तो स्वयं बड़ा हिंस्र जीव है। तब यह सब लोग उसको इतने पास से घेरे हुए निश्शंक भाव से उससे क्या प्रत्याशा रख कर खड़े हैं?

अनायास बाहर धरती पर आकर वह संकोचपूर्वक गिर गया। लिपटा हुआ-सा, देह में ही अपना मुँह छिपाए वह लोगों के घेरे के बीच में पड़ा रहा।

लोगों को उस सर्प की कान्तिमय चित्रित देह बहुत मनोरम जान पड़ी। ऐसा भारी साँप उन्होंने कब देखा होगा? वही भयंकर वन का राजा उनके सामने यों मुँह दुबकाए पड़ा है, मानों यह उन मनुजों के लिए गौरव की बात थी।

एक ने कहा, "मदारी! इसे उठाओ।"

मदारी ने कहा, "बाबू! यह नाग अभी नया है। सकुचाता है।"

एक बच्चे ने कहा, "इसे चलाकर दिखाओ, मदारी!"

मदारी ने कहा, "अच्छा बाबू!"

यह कहकर मदारी ने उस साँप की पूँछ में अपने हाथ से एक जोर की चोट दी।

साँप बैठा-बैठा अपनी अधझपी आँखों से मानों अपने इर्द-गिर्द इकट्ठे हुए इन सीधे होकर चलने वाले लोगों के प्रति प्रेम और करुणा की बातें सोच रहा था। इस प्रकार के मात्र दो पैरों को धरती पर टिकाए वृक्ष की भाँति खड़े ही खड़े चलने-वाले इन आदमी नामक जन्तुओं को उसने अपने स्वदेश में अधिक नहीं देखा था। आरम्भ में देखकर तो उसे इन दो टाँगों पर चलने-वाले आदमियों में विकट भय का ही बोध हुआ था। पर जब उसने जाना कि यह निर्बल प्राणी तो किसी भी अवस्था में उसका एक दंश भी सहन नहीं कर सकते हैं तब भय के स्थान में करुणा होने लगी। उन्हीं विचित्र और अल्पप्राण मनुज-जन्तुओं का जब झुण्ड का झुण्ड उसने अपने चारों ओर पाया तब पहले तो उसे भय हुआ। फिर कुछ लज्जा हुई। और अन्त में वह विचार से पड़ में गया। उसे यह मनुष्य का अविचार मालूम हुआ कि मुझ में उन्हें इतना विस्मय है। फिर भी उसे यह अच्छा लगा कि मुझ में इन प्राणियों को इतना प्रेम है। किन्तु होते-होते उसके लिए इतनी दृष्टियों का केन्द्र बनकर संकुचित पड़े रहना भारी होता आया। वह इन पराये प्राणियों के प्रान्त में से भाग कर अपने विटपाच्छन्न स्वदेश में ही चला जाना चाहता था। किन्तु मार्ग कहाँ था ?

उसी समय पूँछ में चोट खाकर उसने फण उठाया। वह फण चौड़ाता ही चला गया। उसने तुरन्त चोट देने-वाले की ओर देखा। किन्तु, सँपेरा मुँह में बीन देकर बजा रहा था। कुछ क्रोध में, साँप फण फैलाए खड़ा रहा। उस प्रशस्त फण के आतंककारी सौन्दर्य पर लोगों की आँखें जमी रह गईं। मानों इस समय तो उन्हें उस

सौंदर्य में विलास ही है, आतंक नहीं रह गया है। साँप ने अपने उठे हुए फण को चारों ओर घुमाकर सब-कुछ देखा। देखा, कि उसके अपने मन में क्रोध अनुपस्थित नहीं है; किन्तु तो भी इन समस्त मनुजों के चेहरे पर तो कुतूहल ही दिख रहा है। बालक तक भी घबराये नहीं दिखे। साँप ने क्रुद्ध आँखों से देखा। उसने क्षुब्ध सिसकारी छोड़ी। जीभें लपलपाती उसकी बाहर निकलीं, मानों काली तड़ित् रेखाएँ हों। किन्तु इस सबसे, कोई बालक चाहे डरपा भी हो पर, लोगों के तो कुतूहल में ही वृद्धि हुई। वे अधिकाधिक तृप्ति और आनन्दित भाव से साँप के ये करतब देखते रहे।

साँप के फण में जाने कितनी फैल जाने की शक्ति न थी। वह, फैलता ही गया। पार्श्वनाथ की मूर्त्ति के शीश पर छाये नाग-फण-सा ही उस नाग का फण छा आया। वह फण उठता भी गया। साँप के शेष शरीर में भी मानों चैतन्य लहरा आया। विद्युत् के जीवित तार की भाँति उसका शरीर किसी ज्वाला से भरा दीखने लगा। साँप ने स्फुलिंग-सी आँखों से चारों ओर देखा।

किन्तु लोगों का कुतूहल ही बढ़कर रह गया। आतंक तो उनके समीप फटका भी नहीं।

तब जोर से साँप ने अपना फण धरती पर देकर मारा। उससे आस-पास की मिट्टी उड़ गई और फण की नोक के नीचे गढ्ढा-सा पड़ गया।

इस पर लोगों का घेरा अनायास ही एक डग पीछे हटा। पर साँप में उनकी दिलचस्पी ही बढ़ी, दहशत फिर भी उनमें तनिक न समाई।

उस समय सँपेरे ने अपने स्थान से मानों साँप को पुचकारा।

कहा 'बस बेटा, बस।' और हाथ बढ़ाकर साँप की देह पर फेरना चाहा। साँप आवेश के साथ उसके हाथ की ओर झपटा।

सँपेरे ने होठों को बढ़ाकर पुचकारने की ध्वनि निकाली। मानो कि वह उसे चूमना चाहता है।

सर्प अपने निष्फल आक्रोश को भीतर लेकर जल उठा। उसे अब लगा कि लोग उसकी भयङ्करता को व्यर्थ करने के बाद अब उसके तिरस्कार का आनन्द ले रहे हैं। जो उसका तेज था वह इन मनुजों के लिए मात्र सौन्दर्य है। मेरा रोष उनका विनोद है। मेरा अपमान उनकी खुशी है।

सँपेरे ने उसके शरीर पर धीमे-धीमे हाथ फेरकर कहा, "ओ बेटा, बस। बस, मेरे बेटे।"

साँप ने ज़ोर से अपना दाँत सँपेरे के हाथ में गड़ा दिया। सँपेरा अपने हाथ में निकलता हुआ खून देखकर हँसा। उसने उसे पोंछ लिया और शान्त भाव से पुचकारते हुए कहा, "गुस्सा नहीं करते बेटे, शाबास शाबास।"

इस पर साँप चुपचाप कुण्डली मारकर धरती पर बैठ गया। उसकी व्यर्थता उसे काटने लगी। अपने लाञ्छित दर्प को अपने ही भीतर चूसता हुआ वह परास्त, पराजित लोगों के बीच में पूँछ में मुँह दुबकाये पड़ गया।

एक आदमी ने कहा, "सँपेरे, तुमने इसके ज़हर के दाँत निकाल लिये मालूम होते हैं।"

सँपेरे ने कहा, "नहीं बाबू, आप इसका भरोसा मत रखना। हम लोगों के पास तो बूटियाँ रहती हैं।"

यह कहकर बूटी-सी कुछ निकालकर उसने काटे हुए स्थान पर घिस ली।

दूसरे आदमी ने कहा, "यह तो बड़ा तेज़ साँप है ?"

[illegible]ा. "बाबू, इसके काटे का इलाज दुनिया में नहीं [illegible]र नाग है, बाबू।"

[illegible]में मुँह दुबकाए मानो एक ओर से अपने को निगल [illegible] जाता हुआ पड़ा था।

तीसरे आदमी ने फ़रमाइश की, "मदारी, यह तो चुप हो गया। इसको फिर उठाओ।"

मदारी ने अपनी बीन की नोक से निष्क्रिय पड़े हुए साँप की पूँछ में कई टहोके दिये। साँप तैश में काँप-काँप गया। पर वह चुप ही पड़ा रहा, उठा नहीं।

सँपेरे ने फिर चोट देकर कहा, "उठ बेटा!"

साँप को ऐसा क्रोध आया कि वह अपने ही को काट डाले।

सँपेरे ने फिर उसके फण पर चोट देकर पुचकारकर कहा, "उठो बेटा।"

और बेटा, आखिर कब तक न उठता। जब असह्य हो गया तब वह उठा। उठकर वैसे ही फण फैलाया। वैसे ही चारों ओर [illegible] को घुमाया। वैसे ही फुसकार भरी। वैसे ही जीभें निकालीं। [illegible]ी शरीर को तन्नाया। क्रोध का पूरा अभिनय उसने किया। [illegible] उसने जाना कि तमाशाई यही चाहते हैं और यही किये उसे छुट्टी है।

लोगों को बड़ा आनन्द आया। वे सर्प के पक्ष में बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने माना कि सर्प निस्संशय विकट विषधर है। उनको ऐसा आनन्द हुआ जैसे कोई महापुरुष उन्होंने देखा हो। ऐसा महा-पुरुष जिसकी महत्ता की झुलस उन्होंने अपने को नहीं लगने दी है, इसीलिए जिसकी महत्ता उन्हें सानन्द स्वीकार है।

सर्प ने सभी कुछ कर दिया और फिर वह कुण्डली भरकर पूँछ में मुँह डालकर वैसे ही बैठा रहा। तभी एक व्यक्ति [illegible] देखने की इच्छा प्रकट की। इस महत्त्वपूर्ण, अनोखे [illegible] की चलते समय क्या आन-बान रहती है, यह तो दे[illegible]

सँपेरे ने कहा, "अच्छा बाबू।" और बीन की नोक उसके शरीर पर ठोककर सँपेरे ने कहा, "ज़रा चाल दिखा मेरे राजा बेटे, बाबू को खुश कर दे। तुझे बड़ा इनाम मिलेगा।"

बड़े पुरस्कार की वाँछनीयता एकदम उस मतिमन्द सर्प की समझ में शायद नहीं आई। वह चोटें सहता हुआ भी मानो सत्याग्रहपूर्वक वहाँ जड़ की भाँति ही पड़ा रहा। कुछ देर बाद हाँ, उसे बाबू को खुश करने का लाभ अवश्य विदित हो आया दीखा। तब उसने अपनी देह की कुण्डली को खोला और सरकना शुरू किया।

सँपेरे ने फण के पास बीन का टहोका देकर कहा, "सलाम कर बाबुओं को। सलाम कर।"

साँप ने फण उठा दिया।

इसी भाँति कुछ दूर चलकर-चलाकर साँप वैसे ही मरोड़ी मारकर आ बैठने लगा। सँपेरे ने उसे बहुत शाबासी देते हुए [illegible] हाथों में उठा लिया और उसे लिये-लिये वृत्ताकार एकत्रित लो[illegible] समक्ष घूमता हुआ वह कहने लगा, "दाता सब का भला [illegible] कोई फटा-पुराना कपड़ा मिल जाय, राजा! और पेट के लिए दो रोटी।"

लौटकर साँप को जब उसने घर में छोड़ा तब ढक्कन के नीचे अपने अँधेरे घर में उस साँप ने अपने खण्डित दर्प की घूँट पीकर कहा, "हे जगदीश्वर! तैंने मुझे कालकूट विष दिया था। उसे मैंने कृतज्ञ भाव से स्वीकार न कर लेकर तुझे लाचार किया कि तू उसे

मुझ में से वापिस खींच ले। हे ईश्वर! क्या मेरी इसी अकृतज्ञता ... ज भी मुझ से छीन लिया गया है। हे परमात्मा! ... ा तेज था? क्या ज़हर को भी अस्वीकार करने ... नहीं कर सकेंगे, ओ परमात्मा?"

और मालूम हुआ कि वाणी में तो परमात्मा सदा मौन ही रहता है। कृत्य में ही वह व्यक्त है। जगत् की घटना ही जगदीश्वर की वाणी है।

और कृत्य में इस भाँति व्यक्त है। और घटनागत वाणी वह है कि उस सर्प को लेकर सँपेरे को अपनी रोज़ी पाने में सुविधा हो गई है और सँपेरा और उसकी स्त्री—कृतज्ञ होकर भगवान् को धन्यवाद देते हैं कि भगवान्! तू सबका पालनहार है।